ऋ त म्भ रा

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

१९५१

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

अन्तर्राष्ट्रीयख्यातिप्राप्त, भाषाचार्य साहित्यवाचस्पति डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का जन्म २६ नवम्बर सन् १८९० ई० में हबड़ा के निकट शिवपुर में हुआ था। आपकी विश्वविद्यालय तक की शिक्षा

कलकत्ते में ही हुई। सन् १९११ में आप कलकत्ता विश्वविद्यालय की बी० ए० (आनर्स) तथा सन् १९१३ में एम० ए० परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए। इन दोनों परीक्षाओं में आपका स्थान विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम था। भाषाओं के अध्ययन की ओर डा० चाटुर्ज्या का प्रारम्भ से ही आकर्षण रहा और एम० ए० में आपने जर्मेनिक भाषाओं—विशेषतः प्राचीन तथा मध्यकालीन अँग्रेज़ी का विशेष अध्ययन किया। इसके साथ ही साथ आपने वैदिक संस्कृत तथा यूरोप की प्राचीन भाषाओं—ग्रीक एवं लैटिन का भी प्रारम्भिक अध्ययन किया। एम० ए० के पश्चात् ही आपको 'बंगला भाषा' के अध्ययन के लिए 'प्रेमचन्द रायचन्द' छात्रवृत्ति मिली। इसी समय आपने कलकत्ता विश्वविद्यालय का जुबिली पुरस्कार भी प्राप्त किया।

सन् १९१९ में डा० चाटुर्ज्या को 'भाषाशास्त्र' के अध्ययन के लिए भारतीय सरकार की ओर से छात्रवृत्ति मिली और इसके फलस्वरूप सन् १९१९ से १९२१ तक आप लन्दन विश्वविद्यालय में भाषा-

शास्त्र के अध्ययन में प्रवृत्त रहे। सन् १९२० में आपने लन्दन विश्वविद्यालय से ध्वनिविज्ञान सम्बन्धी डिप्लोमा तथा सन् १९२१ में वहीं से अपने खोजपूर्ण निबन्ध "बंगला भाषा की उत्पत्ति तथा विकास" पर डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की। लन्दन में आपने प्रसिद्ध ध्वनि-शास्त्री प्रो० डेनिल जोन्स से 'ध्वनिविज्ञान', डा० एफ० डबल्यू टॉमस से 'भारोपीय भाषाविज्ञान', डा० एल० डी० बार्नेट से 'प्राकृत तथा भारतीय आर्यभाषा', सर इ० डेनिसन रॉस से 'फारसी', प्रो० रॉबिन फ़्लावर से 'पुरानी आयरिश' एवं प्रो० चैम्बर्स तथा ग्रैटन से प्राचीन 'अंग्रेजी एवं गॉथिक' भाषाओं का अध्ययन किया। सन् १९२१—२२ में डा० चाटुर्ज्या पैरिस विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए। यहाँ आपने प्रो० ज़ूल ब्लाख़, अन्तोनेमेइये, जीनप्रज़ुलुस्की तथा प्रो० पॉल पेलियो के तत्वावधान में 'भारतीय आर्य', 'स्लॉव', 'भारोपीय', 'आस्ट्रोएशियाटिक', 'सोगडियन', 'पुरानी खोतनी' एवं 'ग्रीक तथा लैटिन' भाषाओं का गम्भीर अध्ययन किया।

यूरोप में अपना अध्ययन समाप्त करके सन् १९२२ के नवम्बर में आप भारत लौटे। इसी वर्ष कलकत्ता विश्वविद्यालय में 'भारतीय-भाषा-शास्त्र के खैरा प्रोफेसर' के पद पर आपकी नियुक्ति हुई। तब से आज तक आप इसी पद पर कार्य कर रहे हैं। सन् १९२७ में डा० चाटुर्ज्या विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के साथ मलय, सुमात्रा, जावा, बालि तथा स्याम में प्रायः तीन मास तक भ्रमण करते रहे। इस यात्रा में आपने भारतीय कला एवं संस्कृति के सम्बन्ध में विभिन्न-देशों में अनेक भाषण दिए। सन् १९३५ में आप कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के रूप में लन्दन के द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय-ध्वनिविज्ञान-सम्मेलन में सम्मिलित हुए। इसमें आपने भारतीय-शाखा का सभापतित्व भी किया। इसी यात्रा में आपने आस्ट्रिया, हुंगरी, चेकोस्लोवेकिया एवं जर्मनी आदि देशों में भी भ्रमण किया तथा बर्लिन विश्वविद्यालय के प्राच्य-विभाग में भी भाषण दिया।

सन् १९३६ में डा० चाटुर्ज्या बंगाल की रायल एशियाटिक सोसाइटी के फेलो निर्वाचित हुए और सन् १९३७ में आप बंगला-साहित्य परिषद् के रंगून अधिवेशन के सभापति हुए। सन् १९३८ में आपने कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रतिनिधि के रूप में तीसरी बार यूरोप की यात्रा की। इस यात्रा में आप घेंट की तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय ध्वनि परिषद्, कोपेनहेगेन के मानव-शास्त्रसम्मेलन तथा ब्रुसेल्स के अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्य-सम्मेलन में सम्मिलित हुए। सन् १९३९ में आप पोलेण्ड के प्राच्य-विभाग के अवैतनिक सदस्य निर्वाचित हुए और सन् १९४६ में हिंदी-साहित्य सम्मेलन के ३४ वें अधिवेशन कराँची के राष्ट्रभाषा परिषद् के सभापति पद को आपने सुशोभित किया। इसी वर्ष आप पेरिस की एशियाटिक सोसाइटी तथा इसके दूसरे वर्ष अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी के अवैतनिक सदस्य निर्वाचित हुए। सन् १९४८ में डा० चाटुर्ज्या ने यूरोप की चौथी बार यात्रा की। इस यात्रा में आपने पेरिस-अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्य-सम्मेलन में कलकत्ता विश्वविद्यालय तथा भारत सरकार का प्रतिनिधित्व किया। सन् १९४९—५० में आपको प्रायः तीन बार ब्रेली-अक्षर-प्रणाली के सम्बन्ध में यूरोप की यात्रा करनी पड़ी।

भारत के प्रायः समस्त प्रसिद्ध विश्वविद्यालयों एवं भारतीय भाषा-साहित्य एवं इतिहास सम्बन्धी-अनुसन्धान में प्रवृत्त संस्थाओं से डा० चाटुर्ज्या का सम्बन्ध है। भारत के भाषाशास्त्रियों में आपका विशिष्ट स्थान है; अभी हाल ही में दक्षिणी एशिया की भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन के सम्बन्ध में भाषण देने के लिए आपको अमेरिका के पेन्सिलवानिया विश्वविद्यालय ने आमंत्रित किया है।

भाषाशास्त्र के साथ ही साथ डा० चाटुर्ज्या प्राचीनलिपि, मूर्ति, चित्र एवं संगीत कला के मर्मज्ञ हैं। एशिया एवं यूरोप की संस्कृति के भी आप महान् पंडित हैं। आपके व्यक्तित्व में भारतीय तथा ग्रीक संस्कृतियों का अद्भुत समन्वय है। वास्तव में आप भारत की सच्ची विभूति हैं। भारतीय ऋषि-परम्परानुकूल आप सदैव अपने व्यक्तित्व से

तटस्थ रहकर दूसरों का सम्मान करते हैं। छात्ररूप में डा० चाटुर्ज्या के महान् व्यक्तित्व की महत्ता को अनुभव करने का मुझे सौभाग्य मिला है। ऐसे सद्गुरु के चरणों के समीप अध्ययन करने के गौरव में, मैं वस्तुतः अपने संचित सुकर्मों का ही फल मानता हूँ।

भाई नर्मदेश्वरजी चतुर्वेदी तथा श्री महादेव साहा के प्रयास-स्वरूप डा० चाटुर्ज्या के प्रस्तुत हिन्दी निबन्ध-संग्रह का प्रकाशन साहित्य भवन-लिमिटेड की ओर से हो रहा है। इसके लिए वे हमारे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं। मुझे आशा है कि डा० चाटुर्ज्या की अन्य कृतियाँ भी शीघ्र ही हिन्दी में प्रकाशित होकर राष्ट्रभाषा को गौरवान्वित करेंगी।

अलोपीबाग,
दारागंज, प्रयाग
अक्षयतृतीया, सं० २००८

उदयनारायण तिवारी

कबीर साहित्य का अध्ययन

लेखक—श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव, एम. ए.

यों तो अब तक महात्मा कबीरदास जी और उनके साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाली कई पुस्तकें हिन्दी में निकल चुकी हैं, पर यह पुस्तक कई दृष्टियों से सर्व-श्रेष्ठ और उन सबसे कहीं आगे बढ़ी-चढ़ी है; और इसी लिए उत्तर प्रदेश की सरकार ने इस पर लेखक को ८००) का पुरस्कार प्रदान किया है। इसमें विद्वान् और विचारशील लेखक ने बिलकुल नये ढंग से और नये दृष्टि-कोण से संत कबीर के सब ग्रन्थों और कबीर सम्बन्धी हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, अँगरेजी के सैकड़ों ग्रन्थों के विशाल साहित्य का बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि से पूरा-पूरा अनुशीलन करके उनकी बहुत मार्मिक आलोचना की है; और कबीर तथा उनके साहित्य के मर्म तक पहुँचने का बहुत ही अभूतपूर्व और सफल प्रयत्न किया है। पृष्ठ-संख्या ४००; मूल्य—जिल्ददार प्रति का ४॥), बिना जिल्द प्रति का ४)।

'प्रसाद' का विकासात्मक अध्ययन

लेखक—श्री किशोरीलाल जी गुप्त, एम० ए०

प्रसाद साहित्य सम्बन्धी यही एक ऐसी पुस्तक है जिसमें 'प्रसाद' की आदि से अन्त तक की गद्य और पद्य सभी प्रकार की कृतियों और रचनाओं का ऐसा विशद और सफल विवेचन हुआ है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व का है। इसमें 'प्रसाद' की अनेक ऐसी कृतियों की चर्चा मिलेगी, जो उनके किसी आलोचनात्मक ग्रन्थ में नहीं आई है। जैसे 'प्रसाद' की बिलकुल आरम्भिक कविताएँ, गद्य-काव्य आदि। इसे पढ़कर आप अच्छी तरह समझ सकेंगे कि 'प्रसाद' की प्रतिभा और विचार-धारा किन-किन बातों से किस प्रकार प्रभावित होकर किस क्रम से विकसित हुई और उनकी कला किस क्रम से निखरती हुई उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँची थी। 'प्रसाद' के समस्त साहित्य का ठीक और पूरा स्वरूप तथा क्रमिक विकास समझने और उनकी आत्मा तक पहुँचने में इस ग्रन्थ से आपको जितनी अधिक सहायता मिलेगी, उतनी अन्यत्र मिलना सम्भव नहीं। पृष्ठ संख्या २७०; सुन्दर जिल्द, मूल्य ३॥)

नियोग - विनियोग

निराकरण - समाधान

आखिल - साकल

नियति - २८०

सम्भावित - ५३।

प्राश्चर्य - ३१

विस्मय - ५२८

अनुक्रम—

हिन्दी की उत्पत्ति

हिन्दी भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा है, यह तो एक स्वतःसिद्ध बात है। हर काम में, अपने प्रतिदिन के जीवन में हम ऐसा ही देखते हैं। हिमालय के तुषारमंडित गिरिराजस्थित सरल पीलू और चीड़-वृक्ष की अरण्यावली से दक्षिण-समुद्र के पास कन्याकुमारी और सेतुबन्धु-रामेश्वर के नारिकेल-कुंजों तक, आसाम और बर्मा के अति-वृष्टिसिक्त 'सेगुन'-वन और हरिद्रवर्ण धान्यक्षेत्रों से अफ़गानिस्तान और बलूचिस्तान के दुर्गम वारिहीन मरुपर्वत तक, उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम आसमुद्र हिमाचल समग्र भारतवर्ष की तमाम देशी भाषाओं में एक हिन्दी ही भारतीय जाति की विभिन्न शाखाओं के मनुष्यों में एक दृढ़ और उपयोगी मिलन-श्रृंखला है। यदि इसका कारण पूछा जाय, तो एक ही बात में हम इसका उत्तर दे सकते हैं। भारतीय सभ्यता का उत्पत्तिस्थान तथा केन्द्र गंगा और यमुना का तीरवर्ती देश आर्यावर्त ही है। आर्यावर्त के श्रेष्ठ अंश मध्यदेश की भाषा हिन्दी है। हिन्दी के प्रसार का पहला मुख्य कारण यही है कि हिन्दी भारत के हृदय-देश की भाषा है। दूसरा कारण है हिन्दी-भाषियों की उद्यमशीलता। हिन्दी जितने लोगों की स्वाभाविक मातृभाषा या घरेलू भाषा है, उससे दूने चौगुने लोगों की शिक्षा, साहित्य और सामाजिक जीवन की भाषा है। सहज जन्मगत अधिकार से पूर्व-पंजाब, मध्यभारत और पछाँह के जो लोग हिन्दी बोलते हैं—चाहे यह हिन्दी अपने विशुद्ध भारतीय रूप में हो, चाहे अपने मिश्रित

मुसलमानी रूप उर्दू में—और पंजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश, और बिहार प्रान्त के जो लोग साहित्यिक और सामाजिक भाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकार कर उसे सब कामों में व्यवहार करते हैं, इन दोनों प्रकार के मनुष्य अपनी-अपनी जीविका की फिक्र में समग्र भारतवर्ष में फैले हुए हैं, और दूसरे प्रान्तों के सामाजिक तथा आध्यात्मिक जीवन को आर्यावर्त के प्रभाव से इतना प्रभावान्वित कर रहे हैं कि साथ-साथ आर्यावर्त की भाषा बिना प्रयत्न किये हुए भी सुप्रतिष्ठित हो गई है। हिन्दी को यह उच्च स्थान स्वाभाविक कारणों से प्राप्त हुआ है, इसलिए जब तक आर्यावर्त भारत की संस्कृति का मूल-स्थान रहेगा, तब तक हिन्दी का यह आसन नहीं मिटने का।

ऐतिहासिक और भाषातत्त्व की भी दृष्टि से अगर देखा जाय, तो हिन्दी की व्यापकता और भारत की राष्ट्रभाषा होने के लिए एक हिन्दी ही की योग्यता सब लोगों को माननी पड़ेगी।

अन्ध तिमिराच्छादित प्रागैतिहासिक-युग के अवसान के साथ जिस समय वैदिक-युग के अरुणिमा-मंडित ज्योतिर्मय उषःकाल में भारतीय संस्कृति के सूर्य का उदय हुआ, उस समय हमारी हिन्दी, बंगला आदि आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं की आदि जननी वैदिक-भाषा भारत में श्रेष्ठ भाषा थी। भारतीय अनार्य लोगों की अपनी-अपनी पृथक् बोलियाँ थीं, पर वैदिक भाषा के सामने इनमें किसी को कुछ भी प्रतिष्ठा नहीं मिली। वैदिकोत्तर अर्थात् संहितोत्तर काल में ब्राह्मण-ग्रन्थों का युग आया। पंजाब और मध्यदेश के दक्षिण और पूर्व में आर्य-भाषा का प्रसार हुआ। स्वाभाविक परिवर्तन-धर्म के अनुसार, तथा हज़ारों और लाखों अनार्यभाषियों के आर्य-भाषा को ग्रहण करने के कारण वैदिक तथा ब्राह्मण-युग की आर्यभाषा भी विशुद्ध नहीं रही, प्राकृतों का उद्भव होने लगा। भगवान बुद्ध के आविर्भाव के पूर्व ही आदिम या प्राचीन-आर्यभाषा प्राकृत या मध्यकालीन अवस्था में पहुँच गई। इसी समय आर्यों के गुरुकुलों में लौकिक साहित्य-भाषा संस्कृत की प्रारंभिक प्रतिष्ठा हुई। पाणिनी आदि बड़े-बड़े

व्याकरणकार ऋषियों ने इसका व्याकरण लिखकर इसे चिरकाल के लिए परिमार्जित किया। प्राकृतों के उद्भव होने के समय से ही, लौकिक-संस्कृत, प्राचीन भारतके जनगणकी—विशेषतः ब्राह्मण शासित समाजकी—भाषा हुई। मुहावरे में विभिन्न प्रान्तों की आदि-आर्यभाषाओं की प्रगति पृथक्-पृथक् रीति से होने लगी। इसीसे पृथक्-पृथक् प्रान्तीय प्राकृतों की उत्पत्ति हुई। जिस संस्कृत-भाषा को सारे हिन्दू-संसार ने अपनी धार्मिक और संस्कृति-सम्बन्धी भाषा मान लिया, उसका आधार उदीच्य अर्थात् पंजाब और मध्यदेश की लौकिक बोली ही थी। भगवान बुद्धदेव के पहले, ब्राह्मण-ग्रन्थों के युग में, ब्राह्मण-सभ्यता का केन्द्र मध्यदेश अर्थात् कुरुपंचाल देश और उदीच्य अर्थात् मद्र, केकय, गंधार आदि देश थे। उन प्रान्तों में तथा अन्तर्वेद की ब्राह्मणादि शिष्ट जातियों में व्यवहृत भाषा यह संस्कृत थी। अस्तु, संस्कृत आर्य सभ्यता का वाहन या माध्यम स्वरूप होकर इस सभ्यता के साथ तमाम भारतवर्ष में फैली, और भारतवर्ष के बाहर वृहत्तर भारत में—बर्मा, स्याम, कम्बोज, चम्पा, मलय, यवद्वीप, बलिद्वीप आदि में भी—इसका प्रचार हुआ। भारतवर्ष के इतिहास के प्रारम्भ में आर्यावर्त—मध्यप्रदेश अर्थात् हिन्दुस्तान के पछाँह की बोली संस्कृत के रूप में सारे भारतवर्ष में गृहीत हो गई। जहाँ तक पता चलता है, संस्कृत का मौखिक-रूप सिर्फ पंजाब और अन्तर्वेद में ही प्रचलित था। अन्यान्य प्रान्तों में जब आर्यभाषा फैली, तब इसकी अवस्था बदल गई थी—संस्कृत, प्राकृत हो गई थी।

सारे उत्तर-भारत में जिस समय प्राकृत या प्रादेशिक बोलियाँ प्रचलित हुईं, तब प्रान्तीय प्राकृतों में अन्तर्वेद—विशेषतया ब्रह्मर्षिदेश या कुरुपंचाल की प्राकृत शौरसेनी सर्वश्रेष्ठ मानी जाती थी। संस्कृत-नाटकों में श्रेष्ठ सद्वंशज पात्र बात करने में इस शौरसेनी ही का प्रयोग करते थे। इससे यह साबित होता है कि प्राकृत-युग में शौरसेनी का स्थान क्या था। गाने में महाराष्ट्रीय-प्राकृत का प्रयोग था, यह ठीक है; इसका कारण इतना ही मालूम होता है कि महाराष्ट्रीय-प्राकृत में स्वर बहुत होने

से यह शौरसेनी से श्रुतिमधुर मानी जाती थी, और गाने में इसीलिए शायद लोग इसे ज़्यादा पसन्द करते थे।

महाराज अशोक के लेख में मुख्यतः तीन प्रकार की प्राकृत मिली हैं—उदीच्य, लाट-देशीय, और प्राच्य। परन्तु मध्यदेशीय प्राकृत नहीं मिली—मध्यदेश में टोपरा और मेरठ के दो खम्भों पर जो लेख हैं, उनमें पूरब की बोली ही व्यवहार की गई है। महाराज अशोक पूरब के रहने वाले थे, शायद इसी से उनकी प्रान्तिक बोली मध्यदेश में भी प्रयुक्त हुई। भारत के इतिहास में सिर्फ एक ही बार पूरब की बोली ने पछाँह पर चढ़ाई की।

परन्तु महाराज अशोक के समय एक नई साहित्यिक-भाषा भारत से सिंहल में फैली—यह पालि भाषा है। पहले पंडित लोग सोचते थे कि पालि की जड़ पूरब में—मगध में—थी, क्योंकि इसका एक और नाम है 'मागधी'। अब पालि के सम्बन्ध में पंडितों की राय बदल रही है। अब विचार है कि पालि पूरब की नहीं, बल्कि पछाँह की—मध्यदेश की ही बोली थी—शौरसेनी प्राकृत की एक प्राचीन रूपभेद थी। बुद्धदेव के उपदेश पूरब की बोली प्राच्य-प्राकृत में, जो कोशल, काशी और मगध में प्रचलित थी, उसी में प्रकट हुए। फिर इस प्राच्य-प्राकृत से और प्राकृतों में अनुवादित किये गये। मथुरा और उज्जैन की भाषा में जो अनुवाद हुआ, उसका नाम दिया गया 'पालि'। सिंहल में जब इस अनुवाद का प्रचार हुआ, तब वहाँ के लोग भूल से इसे 'मागधी' के नाम से पुकारने लगे, क्योंकि पालि बुद्धवचन था, और भगवान बुद्ध ने मगध में अपने जीवन का बहुत अंश बिताया था, इससे बुद्धवचन या पालि से मगध का सम्बन्ध जोड़कर 'मागधी' नाम रखा। सिंहल से ब्रह्मदेश तथा स्याम और कम्बोज में यह पालि भाषा फैली। इस प्रकार दो हज़ार वर्ष के पहले मध्यदेश की भाषा—जिसे हम हिन्दी का एक प्राचीन रूप कह सकते हैं—बहिर्भारत के बौद्धों की धार्मिक भाषा बनी। यह बात इस युग के पहले की है। ईस्वी सदी के प्रारम्भ से संस्कृत के बाद उत्तर में शौरसेनी भद्रसमाज में बोली जाती थी। इसका प्रभाव दूसरी प्राकृत बोलियों पर भी पड़ा। भाषा-

तत्त्व के विचार से ग्रियर्सन आदि पंडितों ने राजस्थान, गुजरात, पंजाब और अवध की प्राकृत बोलियों पर शौरसेनी का विशेष प्रभाव स्वीकार किया है। राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी और अवधी के विकास में शौरसेनी ने बहुत काम किया। सिर्फ प्रादेशिक प्राकृतों से इन बोलियों की उत्पत्ति नहीं हुई, ऐसा विचार होता है।

ईस्वी प्रथम सहस्र वर्षों के बीच में प्राचीन भारतवर्ष में एक नवीन राष्ट्र या साहित्यिक भाषा का उद्भव हुआ। यह अपभ्रंश भाषा थी, जो शौरसेनी प्राकृत की एक शैली थी। अपभ्रंश भाषा—यह शौरसेनी अपभ्रंश—पंजाब से बंगाल तक और नेपाल से महाराष्ट्र तक साधारण शिष्ट भाषा और साहित्यिक भाषा बनी। लगभग ईस्वी सन् ८०० से १३ या १४ सौ तक शौरसेनी अपभ्रंश का प्रचार-काल था। गुजरात और राजपूताने के जैनों के द्वारा इसमें एक बड़ा साहित्य बना। बंगाल के प्राचीन बौद्ध सिद्धाचार्यगण इसमें पद रचते थे जिनका अन्त में भोटभाषा (तिब्बती) में उल्था हुआ था। इसके अलावा भारत में इस अपभ्रंश में एक विराट् लोकसाहित्य बना, जिसके टूटे-फूटे पद और गीत आदि हेमचन्द्रके प्राकृत व्याकरण और प्राकृत-पिंगल और छन्द-ग्रन्थ में पाये जाते हैं। शौरसेनी अपभ्रंश की प्रतिष्ठा के कई कारण थे। ईस्वी प्रथम सहस्रक की अन्तिम सदियों के राजपूत राजाओं की सभा में यह भाषा बोली जाती थी, क्योंकि यह भाषा उसी समय मध्यदेश और उसके संलग्न प्रान्तों में—आधुनिक पछाँह में—साधारणतः घरेलू भाषा-स्वरूप प्रयुक्त होती थी। द्वितीय कारण यह है कि इस समय गोरखपन्थी आदि अनेक हिन्दू सम्प्रदाय के गुरु लोग जो पंजाब और 'हिन्दुस्तान से नवजाग्रत हिन्दू-धर्म की वाणी लेकर भारत के अन्य प्रदेश में गये थे, वे भी इसी भाषा को बोलते थे, इसमें पद आदि बनाते थे, और इसी में उपदेश देते थे। उसी समय उत्तर-भारत के कनौजिया आदि ब्राह्मण बंगाल आदि प्रदेश में ब्राह्मण आचार और संस्कृति ले उपनिविष्ट हुए। इन सब कारणों से, आज से लगभग एक हजार साल पहले, जिसे हम हिन्दी का पूर्व रूप कह सकते हैं, वही

शौरसेनी अपभ्रंश, ठीक उसी प्रकार जैसे आजकल हिन्दी राष्ट्रभाषा बनी है, एक राष्ट्रीय, साहित्यिक तथा धार्मिक भाषा बनी थी।

संस्कृत, प्राकृत और भाषा—भारत की आर्यभाषा के क्रम-विकास में ये तीन पीढ़ियाँ हैं। संस्कृत आदि-युग की धर्म, राष्ट्र तथा साहित्य की भाषा थी। यह संस्कृत भाषा पंजाब और मध्यप्रदेश की प्राचीन बोली के आधार पर बनी। संस्कृत से प्राकृत का उद्भव हुआ। प्राकृतों में पालि है। पालि भाषा मगध से सम्बन्ध नहीं रखती, परन्तु शूरसेन या मथुरा और उज्जैन से यह मूलतः मध्यदेश ही की भाषा है, इस सिद्धान्त पर आजकल पंडित लोग पहुँचे हैं। पालि के बाद मध्यदेश की भाषा शौरसेनी थी। प्राकृत का अंतिम रूप था, अपभ्रंश। अपभ्रंश बदलता हुआ, हिन्दी आदि भाषाओं में परिणत हो गया। जिस समय शौरसेनी अपभ्रंश परिवर्तित होकर ब्रज-भाषा (हिन्दी) बन रहा था, उसी समय हिन्दुस्तान में तुर्क और ईरानी मुसलमान आये। पहले पंजाब में इनका अधिकार हुआ, और पंजाब ही में करीब सौ वर्ष उन लोगों ने राज किया। पंजाब के कुछ लोग मुसलमान बने। फिर पंजाब से खास हिन्दुस्तान पर मुसलमानों की चढ़ाई हुई, और उनकी विजय हुई। मुसलमान देहली में आये, और उन्होंने अपना राज्य स्थापित किया। अफ़ग़ानिस्तान के तुर्की और फारसी बोलनेवाले विदेशी मुसलमान तो थे ही, पर पंजाबी बोलनेवाले देशी मुसलमान भी इधर ज़्यादा करके आने लगे। पंजाब की बोलियों का मूल शौरसेनी से भिन्न प्राकृत थी, परन्तु शौरसेनी का प्रभाव इन पर बहुत पड़ा। पंजाब में राज करनेवाले विदेशी मुसलमान थोड़ी-बहुत पंजाबी जानते थे। देहली के आसपास कई पड़ी बोलियाँ प्रचलित थीं, और उनका पंजाबी से कुछ सम्बन्ध था। हिन्दुस्तान में आकर पंजाबी पर जाट्ट (बांगरू), मेवाड़ी, ब्रजभाषा प्रभृति बोलियों का असर कुछ तो अवश्य पड़ा। प्राचीन पंजाबी का आदिम रूप देहली में कुछ बदल गया। भाषा के व्याकरण में बहुतसा पंजाबीपन रह गया, परन्तु स्थानीय बोली के व्याकरण के अनुसार भी रूप आ गये। भाषा को हिन्दी या हिन्दुस्तानी नाम मिला। शब्द, विशेष

करके ब्रज आदि प्रान्तिक भाषाओं से लिये जाने लगे। इस प्रकार उदीच्य और मध्यदेश, अर्थात् पंजाब और हिन्दुस्तान के पश्चिमी प्रांत की भाषाएँ मिलकर एक नवीन रूप में प्रकट हुईं। साधारणतः हिन्दुस्तानी मुग़लों के बदौलत सारे भारतवर्ष में फैली। ब्रजभाषा आदि प्राचीन और साहित्यिक बोलियों के साथ-साथ यह भाषा हिन्दू-साहित्यों में भी व्यवहृत होने लगी। अन्त में कलकत्ता शहर में अंग्रेज पंडितों की चेष्टा से गद्य साहित्य की भाषा खड़ी बोली हिन्दी ही हो गई। इस समय हिन्दी की प्रतिष्ठा बढ़ती जाती है—उत्तर-भारत की संस्कृतिमूलक प्रगति का एक प्रधान वाहन या साधन या माध्यम बनकर इस भाषा की जय सर्वत्र हो रही है।

ऐतिहासिक विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उदीच्य और मध्यदेश—पंजाब और पछाँह—विशेष करके मध्यदेश में—भारतीय आर्य-सभ्यता ने अपनी विशेषताएँ प्राप्त कीं, और इन प्रान्तों की भाषा युग-युग में सर्वजनगृहीत और सर्वजनसमादृत हुई—संस्कृत, पालि, शौरसेनी, अपभ्रंश, ब्रजभाषा; फिर शौरसेनी प्रभावयुक्त पंजाब की बोली, हिन्दुस्तान में आकर शौरसेनी की दुहिता स्थानीय ब्रज आदि बोलियों से मिल-जुल-कर हिन्दुस्तानी या हिन्दी बनी। इस प्रकार हिन्दी को वर्तमान मर्यादा मिली। मध्यदेश की भाषा की प्रतिष्ठा भारत के इतिहास की एक प्रधान और साधारण बात है। काल की गति से मूल आर्यभाषा ने संस्कृत, पालि, शौरसेनी, अपभ्रंश इत्यादि रूप बदलते-बदलते आखिर हिन्दी का रूप ग्रहण किया।

प्राचीनकाल में भारतीय सभ्यताविशिष्ट वस्तुएँ यानी हिन्दू-सभ्यता में जो कुछ श्रेष्ठ वस्तुएँ हैं उन सबका उद्भव आर्यावर्त ही में हुआ था। मध्य-काल में जब मुसलमान सभ्यता आई, तब हिन्दू-सभ्यता से उसका मिश्रण आर्यावर्त में हुआ। आर्यावर्त की भाषा हिन्दी में अरबी, फारसी, और तुर्की का शब्दभंडार इस मिश्रण का फल है। इस मिश्रण से भारतीय सभ्यता ने नवीन रूप पाया।

प्राचीनकाल के धर्म राष्ट्र तथा साहित्य की भाषाओं के साथ हिन्दी का सम्बन्ध विचार करने से हिन्दी का इतना प्रचार स्वभाविक ही मालूम होगा। ऐतिहासिक कारण और हिन्दी भाषा की नानामुखी कर्मशक्ति के सिवा हिन्दी में कुछ ऐसे गुण हैं जिनसे यह एक श्रेष्ठ भाषा कही जा सकती है। हिन्दी जिनकी मातृभाषा है, जिन्होंने इस भाषा को अपनाया है, उनकी राय क्या होगी, इसका पता हमें नहीं, पर एक महाराष्ट्रीय मित्र ने अपनी सम्मति इस प्रकार प्रकट की कि, "हिन्दी में जो गुण हैं, उनमें से एक यह है कि हिन्दी 'मर्दानी जबान' है।" मैं बंगाली होकर अपने महाराष्ट्रीय मित्र की इस राय का पूरा समर्थन करता हूँ। आधुनिक हिन्दी के ओज-गुण के कई कारणों में से इसकी संयुक्तव्यंजनबाहुल्यता एक प्रधान कारण है। 'उनका', 'देखके', 'चलता', 'हाथमें', इत्यादि साधारण पद में संयुक्त वर्ण से शब्दोच्चारण में जोर आ जाता है—शब्द पर धक्कासा देकर संयुक्त ध्वनि इसे जाग्रत और उद्यमपूर्ण बना देती है। मेरी मातृभाषा के पदसमूह इतने जोरदार नहीं होते। विशेषकर साहित्यिक बंगला में स्वरबाहुल्य के कारण मिठास आती है; पर वैसा ज़ोर नहीं रहता, जैसे 'उहार' या 'ओर', 'देखिया' या 'देखे', 'चलितेछे' (चालू घरेलू बंगला में संयुक्तव्यंजन आ गया है—'चल्छे'), 'हाते', 'मने' इत्यादि। पुरानी हिन्दी में हलन्त उच्चारण बहुत ही कम होता था सब स्वरवर्ण उच्चारण किये जाते थे। इससे ओजशक्ति कुछ कम होती थी। पर स्वरवर्ण के पूर्ण उच्चारण होने के कारण एक मनोहर मधुरता से भरा हुआ गाम्भीर्य आ जाता था। विशेषतः ध्रुपद आदि गाने में तानसेन आदि प्रमुख संगीतकारों की वाणी से इस बात का प्रमाण मिलेगा। हिन्दी उच्चारण में और एक विशेष गुण है। इसमें सब ध्वनियों का प्रयत्न के साथ सुस्पष्ट उच्चारण किया जाता है। बंगला आदि दूसरी भाषाओं में बहुधा अस्पष्ट उच्चारण की कुरीति चली है। इसी से 'नाइहर' या 'नैहर', 'बहनोई', 'अखाड़ा', 'बनवाई', 'कन्हैया', 'रखवाल', 'मौसी', 'सौंफ', आदि शब्द के 'नायेर', 'बोनाइ', 'आखड़ा', बानी', 'कानाइ', 'राखाल', 'मासी',

'संप' इत्यादि बंगला प्रतिरूप बन गये।

उच्चारण के अलावा हिन्दी की शब्द-सम्पत्ति इसका एक और गुण है। प्राकृत से प्राप्त अनेक शब्द हिन्दी में विद्यमान हैं, मानो इतने प्राकृतज शब्दों का संरक्षण दूसरी किसी आर्यभाषा में हो ही नहीं सका। देहातों में सहस्रों उपयोगी प्राकृत शब्द मिल सकते हैं, जो साहित्य में लाने के योग्य हैं। प्राकृतज शब्द छोड़िये, तो देखिए हिन्दी संस्कृत के समग्र शब्द-कोष की अधिकारिणी बनी है। संस्कृत शब्दों को हम सम्भाव्य हिन्दी शब्द कह सकते हैं। फिर उर्दू या मुसलमानी हिन्दी की बदौलत फ़ारसी-अरबी-शब्द-कोष से भी हिन्दी अपनी मालगुजारी वसूल कर सकती है। प्राकृतज या विशुद्ध हिन्दी, संस्कृत और फारसी—इन तीन प्रकार के शब्दों की मिठास या मिष्टता या शीरीनी हिन्दी की शक्ति तथा गौरव बढ़ा रही है। संस्कृत और अरबी-फारसी के शब्दभंडार हिन्दी के लिए खुले रहने से हिन्दी किसी की परवाह नहीं करती। सामाजिक और गृहस्थ-ज़ीवन की सब बातें केवल प्राकृतज शब्दों से ही हिन्दी में अच्छी तरह से बोली जा सकती हैं। यह सिद्धान्त 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' और 'अधखिला फूल' में श्री हरिऔधजी ने प्रमाणित किया है।

हिन्दी के इतने गुण होते हुए भी, इसे मातृभाषा रूप में लाभ करने का जन्म-सौभाग्य जिसको नहीं मिला, उसके लिए हिन्दी का व्याकरण कठिनाइयों से भरा होता है। एक तो मुश्किल है हिन्दी का लिंग-विचार। सुनते हैं इसमें श्रेष्ठ हिन्दी विद्वानों का भी एक मत नहीं है। हिन्दी की इस स्वतंत्रता ने इस विषय में भाषा को अराजकता में डाल दिया है। 'भात' पुल्लिंग शब्द है और 'दाल' स्त्रीलिंग, 'पुस्तक' स्त्रीलिंग और 'ग्रन्थ' और 'काग़ज़' पुल्लिंग। 'अग्नि, मृत्यु, वायु'—इन सबको इस कलियुग में हिन्दी में स्त्रीत्व की प्राप्ति हुई है। हिन्दी अच्छी तरह से अगर सीखना चाहते हैं, तो संस्कृत-व्याकरण को भूल जाइये। इसके अलावा शब्दरूप में, मौलिक रूप और सामान्य रूप, और 'का' और 'के' का दुरतिक्रमणीय झगड़ा भी है। लिंगविभ्राट और शब्दरूप की कठिनाई से बेचारे हिन्दी-शिक्षार्थी जब

किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाते हैं, तब क्रियापद के कर्मणि और भावे-प्रयोग आकर उसे ख़तम कर देते हैं।

हिन्दी के व्याकरण को कुछ सरलतर और तर्कशास्त्र सम्मत बनाने की आवश्यकता है। हमारा सिद्धान्त यह है कि भविष्य काल का राजा या 'जन-महाराज' इतनी सूक्ष्मता नहीं मानेगा। इनक़लाब जब सचमुच ज़िन्दा होगा और मज़दूर तथा किसान जब भाषा के सुधार का काम खुद ही अपने हाथ में ले लेंगे, तब चालू और बज़ारू, गँवार और देहाती तथा खड़ीबोली और पड़ी बोली सब एकाकार होकर एक नई जन-भाषा बन जायगी।

जनतन्त्र के अनुकूल हिन्दी का एक रूप अब भी विद्यमान है। कलकत्ता महानगरी में नई शैली के हिन्दी-गद्य-साहित्य का पहले प्रचार हुआ, पर यहाँ अनपढ़ लोग जिस हिन्दी को बोलते हैं, उसे हिन्दी के जन-तान्त्रिक रूप के सिवा क्या कहूँ? कलकतिया बंगाली दो ज़बानें जानते हैं; एक अपनी मादरी ज़बान बंगला, और दूसरी कलकत्ते की बज़ारू हिन्दी। बचपन से अपनी मातृभाषा के साथ-साथ हमें इसका व्यवहार करना पड़ता है। मैंने इस टूटी-फूटी हिन्दी के स्वरूप की कुछ आलोचना अन्यत्र की है। इस स्वरूप की मौलिक विशेषता यह है कि व्याकरण के नियम, शब्द, धातु आदि के रूप, प्रत्यय प्रभृति जितने कम व्यवहार किये जा सकें सिर्फ उतने ही व्यवहार में लाये जायँ और स्वतन्त्रता-पूर्वक बंगला शब्द और वाक्य रीति का प्रयोग हो। इस कलकतिया हिन्दी को कलकत्ते के उड़िया, मैथिल, बिहारी आदि सब प्रवासियों ने अपनाया है, क्योंकि इन्हीं के द्वारा शुद्ध हिन्दी बिगड़कर इसका संगठन हुआ। सीखने से भूलना अधिक कठिन है। इधर शुद्ध हिन्दी के साथ परिचय होने का मौका नहीं मिलता, उधर जिन्दगी-भर बज़ारू हिन्दी के सिवा प्रतिदिन का काम नहीं चलता;—हम करें क्या?

जिसके पास शक्ति और सौभाग्य हो उसे नम्र होना चाहिए। हिन्दी-भाषियों का उद्यम और उनकी कर्मशीलता ही नहीं, बल्कि उनकी

नागरिकता और सौजन्य, उनकी संस्कृति और मानसिक उत्कर्ष हिन्दी-प्रचार के प्रबल कारणों में हैं। भारत के लोगों ने हिन्दी को 'राष्ट्रभाषा' मान लिया है; बंगला, मराठी, गुजराती, पंजाबी, तामिल इत्यादि घरेलू भाषा या प्रादेशिक भाषाएँ हो सकती हैं, पर एकता-विधायिनी भाषा और भारत के संयुक्त राष्ट्र की माध्यम हिन्दी ही हो सकती है, इसे आज अधिकांश लोग मानते हैं। शुद्ध हिन्दी बोलना सहज नहीं, रातोंरात शुद्ध हिन्दी सीखना भी कठिन है। बहुत से लोग टूटी-फूटी हिन्दी बोलने में शरमाते हैं। अशक्यताहेतु यदि कोई किसी राष्ट्र या धर्म सम्बन्धिनी सभा में हिन्दी में व्याख्यान न दे सके, पर हिन्दी से अपना प्रेम प्रकट करे, तो उससे धैर्य के साथ व्यवहार करना उचित होगा, और यह गंगातीर की आर्य सभ्यता के सौजन्य के अनुसार ही है। पर ऐसी अवस्था में 'हिन्दी' 'हिन्दी' 'हिन्दी' का नारा लगाकर बेचारे को यदि तंग किया जाय, और उसे अंग्रेज़ी में या अन्य किसी प्रान्तीय भाषा में बोलने न दिया जाय तो वह हिन्दी के प्रसार के अनुकूल नहीं बल्कि विपरीत होगा। हमें आत्म-परीक्षा करनी चाहिए। अनजाने 'लिंग्वेस्टिक इम्पिरियलिज्म' या भाषागत साम्राज्यवाद के पुरोहित हम न बनें—जुल्म या बलात्कार से हिन्दी प्रचार की चेष्टा नहीं होनी चाहिए।

खैर, हिन्दी के जो गुण और कठिनाइयाँ हों, सो हों; पर यह सबको मानना पड़ेगा कि दुनिया के अव्वल दरजे की अन्तर्राष्ट्रीय भाषाओं में हिन्दी का स्थान है। अंग्रेज़ी, उत्तर चीनी, जर्मन, रूसी, स्पेनिश, फ्रांसीसी, अरबी, फारसी, मलय आदि भाषाओं में हिन्दी का नाम लेना चाहिए। संख्या के विचार से अंग्रेज़ी और उत्तर-चीनी के बाद हिन्दी का स्थान है; श्रुतिमाधुर्य ज़ोर, कार्यशक्ति आदि में हिन्दी एक अनोखी भाषा है। ऐसी भाषा हमारा गौरवस्थल है।

मैं हिन्दी से बड़ा प्रेम रखता हूँ। यूरोप-प्रवास के समय फ्रान्स या जर्मनी में कहीं किसी भारतीय छात्र को दूर से मैं देखता, तो उससे मिलने जाता और सबसे पहले हिन्दी में उससे प्रश्न करता—"क्या भाई,

हिन्दुस्तानी हो ?" जिससे बात करता, अगर वह उत्तर-भारतीय होता, तो हिन्दी ही में मुझसे बात करता, और यदि वह दक्षिणी होता, भाव से मेरी बात समझ लेता और यदि हिन्दी नहीं जानता, तो अंग्रेज़ी में माफी माँगता। अपने मित्र और छात्रों में मैं हिन्दी भाषा और साहित्य का गुण-गान किया करता हूँ। कबीर के पद और तुलसी के रामायण को तो मैंने नित्यपाठ्य-ग्रन्थ-सा बना रखा है। बहुत दिनों से इन दोनों विश्व-साहित्य के मुकुटमणिओंका पाठ किया करता हूँ।

बंगाल में हिन्दी का प्रचार हो, बंगाली सज्जन भी हिन्दी भाषा और साहित्य से परिचय प्राप्त कर पार्थिव और आध्यात्मिक लाभ उठावें, यह मैं सर्वान्तःकरण से चाहता हूँ; बंगाल की राजधानी कलकत्ते से हिन्दी का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। यदि कलकत्ते को हिन्दी की आधुनिक गद्यशैली की जन्मभूमि कहा जाय, तो कुछ अत्युक्ति न होगी। हमारी बंगाली जाति के लिए यह बड़े अफसोस की बात है कि हिन्दी ऐसी भाषा से वे यथोचित शक्ति और आनन्द प्राप्त नहीं कर सके। इसके कारण निर्धारण होने चाहिएँ। रोग का निदान और कारण मिलने से इलाज ठीक हो सकता है। मेरे विचार में तो एक कारण यह है कि इधर हिन्दी के उच्च शिक्षित सज्जनों का बहुत कम शुभागमन होता है। बिहार और उत्तर प्रदेश के पूरब के जो आम लोग रोज़ी के लिए इधर आते हैं, वे स्वयं शुद्ध हिन्दी नहीं बोल सकते,—उनकी व्यवहृत खिचड़ी बोली, साहित्यिक और शुद्ध हिन्दी के प्रचार का प्रधान अन्तराय होती है।

चालू हिन्दी

हिन्दी या हिंदुस्तानी का व्याकरण जो सबसे पहले मेरे हाथ आया, वह एक पतली और छोटी सी किताब थी, जिसे हिंदुस्तान में नये आये हुए गोरे अंगरेजों के लिए किसी अंग्रेज ने खासतौर पर लिखा था। आज से कोई अट्ठाइस-उनतीस साल पहले जब मैं स्कूल में विद्यार्थी था तब मैंने उसे गुदड़ी बाज़ार के पुरानी किताबों के ढेर से चुनकर चार पैसे में खरीदी थी। किताब खरीदने के पहले मैंने हिन्दी के व्याकरण पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया था क्योंकि कलकत्ते के अन्य बङ्गाली लड़कों की भाँति मैं थोड़ी सी बाजारू हिन्दी जानता था जो इस शहर में काम चलाने के लिए काफी थी। परन्तु मैंने जब इस व्याकरण को पढ़ा तब मेरे मन में भाषा सम्बन्धी खोज का नया प्रभाव पड़ा। यह छोटी-मोटी किताब निहायत किफायत के साथ लिखी गई थी। इसमें केवल रोमन लिपि का प्रयोग था। और शब्द तथा धातुओं के रूप हायफन (संयोग-चिह्न) के द्वारा विशेष विश्लेषण करके दिखाये गये थे। ऐसी पुस्तक पढ़ने में मुझे बहुत आसानी पड़ी क्योंकि मैंने उस समय तक देवनागरी अच्छी तरह नहीं सीखी थी और उर्दू-लिपि का पढ़ना भी नहीं जानता था। खैर, इस छोटी सी किताब से 'का, की,के, को' इन प्रत्ययों या कर्म-प्रवचनीय अनुसर्गों का प्रयोग सीख लिया। मैंने देखा कि हिन्दी में सर्वनाम दो हैं "मैं और तू"। ये हमारे यहाँ प्रचलित बाजारू हिन्दी में व्यवहृत नहीं होते, परन्तु हमारी मातृ-भाषा बंगला के ग्राम्य सर्वनाम

'मुइ, तुइ' से मिलते हुए जान पड़ते हैं। हिन्दी में शुद्ध प्रयोग है—'मेरी बात' परन्तु हम आमतौर पर बोलते हैं, "मेरा या हमारा बात"। यह भी विदित हुआ कि भविष्य-काल की क्रिया के शुद्ध रूप हिन्दी में "मैं जाऊँगा—हम जायेंगे, तू जायगा—तुम जाओगे, वह जायगा—वे जायेंगे" होते हैं। शुद्ध हिन्दी के सम्बन्ध में मैंने जो खोज की उसका प्रभाव मेरे चित्त पर बहुत अधिक पड़ा क्योंकि ऊपर लिखी व्याकरण मिलने से कई दिन पहले स्कूल से आते समय दो साहबों को हिन्दी बोलते सुना था। कलकत्ते की एक सड़क को खोद कर कई मजदूर पाइप बिछा रहे थे। इन कुलियों में कुछ बिहारी और कुछ हिन्दुस्तानी—यू० पी० के रहनेवाले थे, जो हमारे यहाँ 'पश्चिमी' या पश्चिमवाले कहलाते हैं। इन मजदूरों के साथ दो साहब थे जिनमें एक तो लाल मुँह का अंग्रेज और दूसरा काला फिरंगी था। ये सब आपस में हिन्दी बोलते थे। मैंने सुना कि अंग्रेज बहुत विचार कर कहता है—हम जायगा, तुम जायगा, वो जायगा, हम सब कोई जायगा। इतना ही उस समय मैंने सुना। इसके पूर्वापर-सम्बन्ध का मुझे कुछ पता नहीं था। कहा जाता है कि हम हिन्दुस्तानी लोग दार्शनिक विचारों की ओर झुकते हैं। यह बात बिलकुल सत्य है। यद्यपि मैं उस समय बारह-तेरह साल का बालक था परन्तु मैं सोचने लगा—हम लोग कहाँ जायँगे ? यह भी चिन्ता हुई कि हम लोग कहाँ से आये हैं ? हमें इन बातों का कभी पता लगेगा या नहीं, यह शंका उत्पन्न हुई। अस्तु। जब मैंने उस व्याकरण का अवलोकन किया और धातु के रूप देखे तब विदित हुआ कि कलकत्ते में हम—मैं और वह अंगरेज सब, "जाऊँगा, जायँगे, जायगा, जाओगे" के बजाय केवल एक रूप जायगा से काम चलाते हैं। उस समय हमें यह ज्ञान हुआ कि अच्छी तरह हिन्दी सीखने का प्रयत्न किये बिना कलकत्ते की सड़कों और दूकानों पर हम जो हिन्दी बोलते हैं वह शायद व्याकरण और उत्तर भारतीय पढ़े-लिखे लोगों की दृष्टि में अशुद्ध है। परन्तु हमें यह भी विदित हुआ कि यह बंगाल की

एक जीवित भाषा है जिसकी सहायता से बिना किसी प्रकार की कठिनाई के हम अपने मनोभाव व्यक्त कर लेते हैं।

प्रान्तीय बाजारू हिन्दी के उस रूप का कुछ विवेचन मैं कर चुका हूँ (देखो कलकत्ता हिन्दी—ए स्टडी आफ जार्गन डाईलेक्ट : बुलेटिन आफ द लिंगवेस्टिक सोसाइटी आफ इन्डिया, लाहौर १९३०) इस हिन्दी की प्रकृति चाहे जो कुछ हो परन्तु यह हिन्दी की एक टूटी-फूटी मूर्ति अवश्य है। हम इसे तुच्छ नहीं कह सकते। उत्तर-भारत के पश्चिमी भाग को छोड़कर समस्त भारत में आमतौर पर लोग जो हिन्दी का व्यवहार नित्य करते हैं वह शुद्ध और व्याकरण-संगत नहीं है। वह बाजारू हिन्दी का ही भेद है। यह कथन भ्रमपूर्ण न होगा कि हिन्दी के दो मुख्य रूप हैं। एक साहित्यिक रूप और दूसरा चालू रूप। इन्हें क्रम से हम "साधु-हिन्दी" "लौकिक हिन्दी", "लघु हिन्दी" या बोलचाल की हिन्दी कह सकते हैं। "साधु हिन्दी" पश्चिमी मुहावरों पर आश्रित है। "लौकिक हिन्दी" विभिन्न प्रान्तों के लोगों में प्रचलित हिन्दी है। "लौकिक हिन्दी" में शुद्ध हिन्दी या साधु-हिन्दी की व्याकरण सम्बन्धी कुछ विशेषताएँ नहीं मानी जातीं। लौकिक हिन्दी प्रायः ऐसे लोगों में प्रचलित है जो शुद्ध हिन्दी या शुद्ध उर्दू अच्छी तरह से नहीं जानते और जो अपने घर में अपने-अपने प्रान्त की बोलियाँ बोलते हैं जैसे पंजाबी, लंहदी, कुमायूनी, गढ़वाली, अवधी, भोजपुरिया, मगही, मैथिल, छत्तीसगढ़ी इत्यादि। इन बोलियों को बोलनेवाले शिक्षित लोग जब हिन्दी का प्रयोग करते हैं तब वे साधारणतया लौकिक हिन्दी ही बोलते हैं और पारस्परिक व्यवहार में "साधु-हिन्दी" बोलने की बहुत कम चेष्टा करते हैं।

जो लोग जन्मसिद्ध अधिकार से या बचपन की शिक्षा से साधु-हिन्दी को नहीं अपना सके हैं, वे यदि पूर्वी बिहार या बङ्गाल के निवासी हैं और घर में पूरब की बोलियाँ बोलते हैं, तो उन्हें 'साधु-हिन्दी' बोलने में निम्नलिखित कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है:—

(१) शब्दों के लिंग-भेद; तदनुसार सम्बन्ध-पद विशेषण तथा क्रियापद के लिंग-भेद।

(२) शब्द रूप में कर्त्ता तथा अन्य कारकों में भेद—"का—के" का विषय।

(३) क्रियापद के विशेष रूप—क्रियापद का वचन भेद। अर्थात् सकर्मक क्रिया का कर्मवाच्य तथा भाववाच्य में प्रयोग।

उपर्युक्त विषयों में पूरब के अतिरिक्त अन्य स्थानों के लोग प्रायः भूलें करते हैं। पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी, मराठी, सिंधी, कुमायुनी इत्यादि में लिङ्ग-भेद तथा क्रिया के कर्म और भाव-प्रयोग रहते हुए भी भाषाओं को बोलनेवाले 'साधु-हिन्दी' बोलते समय उसे बिल्कुल शुद्ध नहीं बोल पाते। अब मैं इन विषयों पर अपने विचार पृथक् रूप से प्रकट करता हूँ।

(१) अपने ढङ्ग से निराला तथा अद्वितीय न होते हुए भी हिन्दी का लिंग-भेद एक अनोखी चीज है। आधुनिक अंगरेजी का लिंग-भेद प्रकृति की दृष्टि से होता है। पुंवाचक प्राणियों के नाम पुल्लिंग समझे जाते हैं और स्त्रीवाचक शब्दों के नाम स्त्रीलिंग तथा अ-प्राणिवाचक वस्तुओं के नाम क्लीवलिंग। अंग्रेजी में विशेषण के लिए विशेष स्त्री प्रत्यय नहीं हैं, इसलिए अंग्रेजी की रीति सरल है। कहीं काव्य या कविता-भाव से अंग्रेजी में अप्राणिवाचक शब्दों पर लिंग का आरोप होता है, परन्तु यह साधारण रीति नहीं है। संस्कृत के लिंग शब्दों के प्रत्ययों से दृष्टिगत होते हैं। "अ (अल्, क, घञ्, इत्यादि)। प्रत्यान्त शब्द प्रायः पुल्लिंग होते हैं। परन्तु हिन्दी में लिंग-भेद के सम्बन्ध में कोई नियम निर्धारित करना कठिन है। हिन्दी में लिंग दो हैं, पुल्लिंग और स्त्रीलिंग। हिन्दी-व्याकरण में क्लीवलिंग (नपुंसकलिंग) नहीं माना जाता। परन्तु हिन्दी-शब्दों में विशेष प्रत्यय देखकर या प्राकृतिक लिंग का विचार कर लिंग-निर्धारण नहीं हो सकता। एक तो शुद्ध हिन्दी और प्राकृत

से उत्पन्न हिन्दी-शब्दों में प्रायः प्रत्ययों का चिह्न कुछ नहीं दिखायी देता—जैसे बात, काम, हाथ, सड़क, आग, चाँद, घी, घोड़ा, इत्यादि, दूसरे यहाँ अप्राणि-वाचक नाम भी पुल्लिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग गिने जाते हैं। यह प्रथा फ्रांसीसी आदि भाषाओं से मिलती जुलती है। जैसे (Le Couteau) "ल्यो कुतो" (छुरी) पुलिङ्ग (La Fowchette) "ला फुशेंत" (काँटा) स्त्रीलिङ्ग, इत्यादि। हिन्दी के लिंग-भेद का कारण हिन्दी की पूर्व अवस्था प्राकृत में मिलेगा। संस्कृत का प्रत्यायश्रयी लिंग-विचार उत्तरा- धिकार-सूत्र से प्राकृत को मिला और प्राकृत के नियम हिंदी में आ गये। सिलसिला या परंपरा ठीक है, परन्तु परिवर्तन का स्वरूप भाषा-प्रवाह के आवर्त्त में छिप गया है। इससे अधिक कहीं-कहीं संस्कृत तथा प्राकृत की धारा अपभ्रंश या प्राग्-हिन्दी में विपर्यस्त हो गयी है। संस्कृत में 'वार्त्ता' आकारान्त स्त्री-लिंग शब्द था। 'वार्ता' से प्राकृत में स्त्रीलिंग 'वत्ता' शब्द उद्भव हुआ। 'वत्ता' से अपभ्रंश 'वत्त' भी स्त्री-लिंग था और 'वत्त' से 'बात' हिंदी शब्द निकला। यही स्त्री-लिंग का प्रयोग प्राचीन आर्य, मध्य-आर्य तथा नवीन आर्य हिन्दी में अविकृत रूप में रह गया।

इसी तरह ईरानी भाषा में "पोस्त" लिखने के लिए तैयार किये गये चमड़े को कहते हैं। इसीसे संस्कृत-स्त्रीलिंग-शब्द 'पुस्तिका' उद्धृत हुआ। 'पुस्तिका' से प्राकृत "पोत्थिया", अपभ्रंश "पोत्थिअ" और हिंदी पोथी बना। 'पोथी' शब्द के स्त्री-लिंग होने के कारण इसके मूल रूप में "पोत्थिआ" पर विचार करने से मिलेगा। फारसी से "दफ़्तर" और "किताब" जो मूल रूप में अरबी के शब्द हैं, हिन्दी में आये और हिन्दी-स्त्रीलिंग शब्द "पोथी" के प्रतिशब्द स्वरूप "किताब" और 'दफ़्तर"* शब्द भी स्त्रीलिंग बने। 'पुस्तक' शब्द संस्कृत से हिन्दी में आने पर 'पोथी' के लिंग के अनुसार अपना लिंग बदल कर स्त्रीलिंग शब्द बना। परन्तु

* दफ्तर शब्द का प्रयोग पूरब में पुल्लिंग ही में होता है—सं०

'ग्रंथ' शब्द संस्कृत से नवीन प्रभाव के साथ आया और इसीलिए उसे स्त्रीलिंग में परिवर्तित नहीं होना पड़ा। भाव या वस्तुवाचक शब्दों का लिंग कहीं-कहीं परिवर्तित हो गया है :—जैसे "आगी" (पुल्लिंग) से "आग" (स्त्रीलिंग) (शायद अग्निशिखा ऐसे शब्द के प्रभाव के कारण)। "मृत्यु' पुल्लिंग से प्राचीन हिन्दी-शब्द "मीच" स्त्रीलिंग हुआ। पुरुष और प्रकृत के भाव या गुण वस्तुओं पर आरोपित करके भी अप्राणिवाचक शब्दों का लिंग निर्णित किया गया, परन्तु हिन्दी में ऐसे भी बहुत से शब्द हैं जिनके लिंग का कारण निर्धारित करना कठिन है। जैसे चावल, चना, समोसा, भात, हलवा, पुल्लिंग, और दाल, भाजी, पूड़ी, मिठाई, स्त्रीलिंग। क्षुद्रता या लघुतावाचक दीर्घ ईकारांत शब्द भी स्त्रीलिंग होते हैं। उसका कारण यह है कि स्त्रीवाची या क्षुद्रतावाची शब्द में प्रत्यय रूप से जो दीर्घ 'ई' मिलती है उसका मूल संस्कृत के 'इका' से है। ऐतिहासिक तथा भाषा-तात्विक कारण चाहे जो हो परन्तु यह मानना पड़ेगा कि हिन्दी का लिंग-भेद कठिनाइयों से भरा है और साधारण बुद्धि के लिए इसका रहस्य दुर्बोध्य तथा अबोध्य है। "चील" स्त्रीवाचक क्यों है? "हंस" और "कौआ" पुल्लिंग क्यों है? ये प्रश्न ऐसे हैं जिनसे हिन्दी-सीखनेवाला लिंग-भेद के गोरखन्धे में हैरान हो जाता है। इस हैरानी से बचने के लिये साधारण लोग हिन्दी बोलते समय लिंग-भेद पर ध्यान ही नहीं देते और यहाँ तक होता है कि स्त्रीलिंग का व्यवहार ही नहीं करते। स्त्री-वाचक विशेषण और क्रियापद भी साधारणतया कम व्यवहृत होते हैं और षष्ठी विभक्ति के 'की' प्रत्यय के स्थान पर "का" का ही अधिक चलन दिखलायी पड़ता है।

वर्तमान हिन्दी-लिंग-रीति प्राचीन लिंग-रीति का एक ध्वंसावशेष है। यह आधुनिक मनन-शैली के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। मनोभावों को प्रकाशित करना भाषा का मुख्य उद्देश्य है। इस कार्य में हिन्दी का लिंग-भेद व्यर्थ और अनावश्यक है। "गैया आयी", "गाड़ी कब आयेगी" "रूस देश की रानी" और "रघुकुल रीति ऐसी चली आई" के स्थान में

यदि "गैया आया", "गाड़ी कब आयगा", "रूस देश का रानी" और "रघुकुल रीति ऐसा चला आया है" बोला जाय तो इसमें भाषा की कुछ भी हानि नहीं है। पन्द्रह करोड़ लोग जिनमें हिन्दी प्रचलित है, उनमें कम से कम आठ करोड़ लोग व्याकरण और लिंग का विचार किये बिना हिन्दी बोल लेते हैं।

(२) शब्द रूप में कर्ता से भिन्न कारकों के विशेष रूप की कोई जरूरत नहीं है, विशेपकर एक वचन में। "घोड़ा-घोड़े पर, घोड़े से" इत्यादि के स्थान में बोल-चाल की हिन्दी में "घोड़ा पर, घोड़ा से" ऐसे प्रयोग अधिक स्वाभाविक मालूम पड़ते हैं। बहुवचन के रूपों में प्रायः विभक्त्यन्त रूप से संयोग-मूलक अधिक प्रचलित है—जैसे घोड़ा—घोड़े, लाठी—लाठियाँ के स्थान पर घोड़ा सब, लाठी—सब लाठी या लाठी सब। इस लिए बहुवचन के कर्ता से भिन्न कारकों के रूप जैसे "घोड़ों, लाठियों" का व्यवहार बोल-चाल की हिन्दी में बहुत कम है। "ओं" प्रत्ययान्त रूप को बर्जित करने से कुछ हानि नहीं है। सम्बन्ध-पद पूर्व कर्ता से भिन्न कारकों के लिये सम्बन्ध-पद की विभक्ति या अनुसर्ग "का" का जो परिवर्तन होता है, उसकी भी आवश्यकता नहीं। जैसे बोल-चाल की हिन्दी में अक्सर लोग बोलते हैं—"राम का लड़का का" (=राम के लड़के का), हमारा वास्ते (=मेरे वास्ते या हमारे वास्ते) "उसका पहिले" (=उसके पहले) इत्यादि। अच्छी तरह हिन्दी सीखे बिना "का-के-की" का व्यवहार करना कठिन होता है। "(इस) के लिए, (उस) के वास्ते, (इस) के अतिरिक्त" इत्यादि कर्ता प्रवचनीय वाक्यांशों में जो अनुसर्ग "के" विद्यमान है उसका प्रयोग चालू हिन्दी या बोल-चाल की हिन्दी में सुनाई पड़ता है।

(३) बोल-चाल की हिन्दी में क्रिया-पद का वचन-भेद नहीं माना जाता, जैसे, हम है, यह है, वह है, वे लोग हैं, हम था, तुम था तुम लोग आया, आप आयेगा, आप लोग आयेगा" इत्यादि। कर्तृपद मौजूद रहने से बहुवचन की आवश्यकता नहीं होती। इसके अलावा

क्रिया-पद में एक ऐसी विशेषता है जिसने 'साधु-हिन्दी' को कठिन ज़बानों में रख दिया है; वह है सकर्मक क्रिया के अतीत काल में "कर्मणि का-प्रयोग" और "भावे-प्रयोग।" जैसे "राम ने भात खाया" राम ने रोटी खाई (कर्मवाच्य में प्रयोग) और राम ने गोपाल को मारा (भावे-प्रयोग)। कर्मणि प्रयोग में क्रिया-पद स्त्री-लिंग तथा बहुवचन में रूपान्तरित हो जाता है। इसलिए उसका शुद्ध प्रयोग करना मुश्किल होता है। आम तौर पर बोलचाल की हिन्दी में लोग बोलते हैं—'राम आया, राम और उसका भाई आया, राम भात खाया, राम रोटी खाया, राम ने गोपाल को मारा।" ऐसे वाक्यों में क्रिया का अतीत रूप सिर्फ कर्त्तरि या कर्तृवाच्य में ही होता है। ऐसे सरल प्रयोगों से भाषा की शक्ति का कुछ भी ह्रास नहीं होता और साथ ही भाषा सरल हो जाती है।

हमारा कथन यह है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी का साहित्यिक या शुद्ध रूप तो है ही परन्तु उसकी छाया में जो लौकिक या चालू रूप जन-साधारण में प्रचलित है और जिसे तमाम भारत में आबाल वृद्ध-वनिता राजा से लेकर रंक तक सब लोग थोड़ा बहुत समझते और बोलते हैं, उसे राजनीतिक जीवन तथा साहित्य में हिन्दी का एक लघु रूप स्वीकार किया जाय। 'साधु-हिन्दी' अभी ऐसी अवस्था में है जिसे हम अँग्रेजी में हाई डाइलेक्ट, लिटरेरी डाइलेक्ट कहते हैं। टूटी-फूटी बोलचाल की हिन्दी को हम 'कालोक्यिअल डाइलेक्ट' कह सकते हैं। यह बोलचाल की हिन्दी, 'कालोक्यिअल डाइलेक्ट,' भारतीय प्रजाजन की बोली है। आधुनिक युग में गण महाराज अपना सिर ऊँचा कर रहे हैं। उनकी वाणी, बाजारू, हिन्दी-भारत के भावी संयुक्त राष्ट्र की 'गण-वाणी' बनेगी। Vox Populi Vox Dei—गण की वाणी ही देवता की वाणी है। भावी भारत के लिए जन या गण-वाणी देव-वाणी भले ही न हो, साहित्य की वाणी जरूर होगी। गण महाराज अभी "इनक़लाब ज़िन्दाबाद" और 'बोलो भाई मजदूरों की जय" पुकार रहे हैं। "गलते आम फसीह वह सहीह" इस नीति को हमें मानने की आवश्यकता है,

विशेषतः भाषा के सम्बन्ध में। "महाजनो येन गतः सपन्थाः" जनता जिधर जाती है वही सड़क है। बोलचाल की हिन्दी या चालू हिन्दी सचमुच में भारत की जीवित Esperanto भाषा है। इसी के आधार पर भारत में एक राष्ट्र बनाना सहज साध्य हुआ है।

हमारे विचार से सर्व-साधारण में हिन्दी का व्यवहार व्यापक बनाने के लिए 'चालू हिन्दी' को स्वीकार करना ज्यादा अच्छा है। "साधु-हिन्दी" ऐसी प्राचीन भाषा नहीं, जिसके लघु रूप को मानने से भाषा का सत्यानाश होगा। उच्चकोटि साहित्य की सृष्टि करने के लिए जो लोग शुद्ध रूप में "साधु-हिन्दी" का प्रयोग कर सकें वे करें परन्तु सभा-समितियों आदि में प्रांतीय और अनपढ़ लोगों के लिए "चालू हिन्दी" के व्यवहार का अधिकार हो। सुकुमार साहित्य को छोड़कर सामाचार-वार्त्ता इत्यादि में यह चालू हिन्दी या बोलचाल की हिन्दी ही व्यवहृत हो।

'चालू हिन्दी' का रूप निर्दिष्ट करना मुश्किल होगा। उसका कोई निर्दिष्ट रूप पहले नहीं हो सकता। उसका उच्चारण "साधु-हिन्दी" के आदर्श पर मानना चाहिये। शब्द संस्कृत और उत्तर-भारत की बोलियों से लेने पड़ेंगे। इसके व्याकरण में जहाँ तक हो सकेगा, कम रूप रहेंगे। बंगाल और विहार में बोलचाल की हिन्दी देखकर हमें ज्ञात होता है कि निम्न-लिखित रूप उसके व्याकरण के काम में लाए जाते हैं। बोलनेवाले के भाषा-ज्ञान के अनुसार "साधु-हिन्दी" के और रूप भी व्यवहृत होते हैं, परन्तु अधिक रूपों की आवश्यकता नहीं पड़ती।

चालू हिन्दी का संक्षिप्त व्याकरण

१—शब्द रूप :—

लिंग-भेद प्रकृति के अनुसार—पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और क्लीवलिंग। स्त्रीलिंग वाले शब्द के विशेषण तथा क्रिया के लिए विशेष प्रत्यय 'ई' का प्रयोग नहीं होता।

उदाहरण—

"एक राजा का एक बेटी था वह बड़ा खूबसूरत था। उसका छोटा

बहन विधवा हो गया। राजा का बेटी बोला, हम शादी नहीं करेगा, वह तो बेवा औरत है वह क्या कहेगा ?"

परन्तु अर्थ के अनुसार विशेष्य में (विशेषण या क्रिया में नहीं) स्त्रीलिंग के प्रत्ययों का प्रयोग होता है जैसे, मामा-मामी, बुड्ढ़ा-बुड्ढ़ी (परन्तु बुड्ढ़ा माँ या बुड्ढ़ी माँ नहीं)। इसी प्रकार धोबी-धोबन और राजपूत-राजपूतनी इत्यादि।

बहुवचन केवल "लोग, सब, समूचा इत्यादि शब्दों की सहायता से होते हैं, विभक्ति बदलकर नहीं। जैसे, आदमी—आदमी लोग; घोड़ा-घोड़ा सब या सब घोड़ा इत्यादि। 'ने' प्रत्यय का योग करके कर्तृकारक (औत्पत्तिक दृष्टि से करण कारक) नहीं बनता। कर्त्ता के सिवा और कारकों में शब्दों के रूप का परिवर्तन नहीं होता।

उदाहरण

घोड़ा—घोड़ा सब
घोड़ा का—घोड़ा सब का
घोड़ा से—घोड़ा सब से, इत्यादि।

सम्बन्ध-कारक केवल एक प्रत्यय होता है—"का"। विशेषण शब्दों का स्त्रीरूप नहीं होता:—"नया गाड़ी, लंबा लंबा बात।"

२—सर्वनाम

"मैं, तू" का प्रयोग नहीं है

एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
हम	हम लोग	तुम	तुम लोग
हमारा	हम लोग का	आप	आप लोग का
		तुम्हारा	तुम लोग का
		आपका	आप लोग का
यह	ये सब, ये लोग	वह	वे सब, वे लोग
इसका	ये सब का, इनका	उसका	वे सबका, उनका
जो	जो सब	सो, तौन,	सो, सब

जिसका	जिनका	तिसका	तिन सब का
	जो सब का		

शेष रूप "साधु-हिन्दी" के अनुसार हैं।

२—धातु रूपः—वचन और लिंग में पार्थक्य नहीं होता।

अस्त्यर्थक धातु—

अनुज्ञा = हो — होवो

क्रियावाचक विशेष्य	=	होना
शतृवाचक वर्तमान	=	होता
सामान्य वर्तमान	=	है
संभाव्य वर्तमान	=	हो, होवे
घटमान वर्तमान	=	होता है
पुराघटित वर्तमान	=	हुआ है
सामान्य अतीत	=	था (अस्तित्व वाचक)। हुआ (घटनावाचक)
घटमान अतीत	=	होता था। (विशेषण-होता हुआ)
पुराघटित अतीत	=	हुआ था
सामान्य भविष्यत्	=	होगा
घटमान भविष्यत्	=	होता होगा
संभाव्य भविष्यत्	=	हुआ होगा
कर्तृवाचक विशेष्य	=	होनेवाला

इसी प्रकार "चल, देख" धातुओं के रूप में सिर्फ निम्न-लिखित रूप माने जाते हैं। जैसे—

चल, देख (धातु); अनुज्ञा—चलो, देखो और चलिए, देखिये (सम्मानार्थ 'आप' शब्द के साथ), चलियो देखियो (ईसत् सम्मानार्थ) चलियेगा, देखियेगा' (भविष्यत् अनुज्ञा, सम्मानार्थ)। धातु स्वरान्त होने से सम्मानार्थ अनुज्ञा में 'इये' प्रत्यय के स्थान में "इजिये" प्रत्यय आता है। जैसे देखिये, पीजिये, लीजिये, इत्यादि। कर धातु में दो प्रकार के प्रयोग होते

हैं—"कीजिये, करिये"। चलना, देखना; चलता, देखता (सामान्य वर्तमान चालू नहीं), संभाव्य वर्तमान—"चले, देखे; चलता है, देखता है, चला है, देखा है; चला, देखा; चलता था, देखता था, चला था, देखा था, चलेगा, देखेगा, चलता होगा, देखता होगा, चला होगा, देखा होगा, चलनेवाला, देखनेवाला, इत्यादि।"

अब मैं इस प्रकार बोलचाल की हिन्दी या चालू हिन्दी में लिखी हुई दो कहानियाँ और समाचार पत्रों की दो खबरें देकर अपने निबन्ध को समाप्त करता हूँ।

कहानी

(१)

उतरंगा हवा और सूरज इस बात पर झगड़ रहा था कि हम दोनों में कौन अधिक बली है। तब उस समय इस तरफ एक गरम चादर ओढ़ा हुआ एक मुसाफिर आ गया। इन दोनों में यह तय हुआ कि जो पहले मुसाफिर का चादर उतार सकेगा वह ज्यादा बली समझा जायगा। तब उतरंगा हवा बहने लगा। पर हवा जितना बहा मुसाफिर उतने जोर के साथ चादर को अपना देह पर लपेटता गया। अन्त में हवा अपना चेष्टा छोड़ दिया। तब सूरज तेजी के साथ ऊगा और मुसाफिर गरमी के कारण अपना चादर उतार लिया। इससे उतरंगा हवा को मानना पड़ा कि दोनों में सूरज ज्यादा बली है।

(२)

एक आदमी का दो बेटा था। उनमें से छोटा बेटा बाप से कहा कि बाबा, आपका माल का जो हिस्सा हमको मिलेगा उसको हमको दे दीजिये। तब बाप अपना दो बेटा को अपना माल बाँट दिया। कुछ दिन बाद छोटा बेटा अपना हिस्सा का सब कुछ इकट्ठा करके दूर देश में चला गया और वहाँ लुचपन में दिन बिताता हुआ अपना सब रुपया-पैसा उड़ा दिया। जब ऐसे कुछ दिन बीता तब उस देश में बड़ा अकाल पड़ा। यह बहुत गरीब हो गया। तब वह उस देश का कोई बड़ा

आदमी का यहाँ जाकर रहने लगा। वह आदमी अपना सुअर चराने को उसको खेत में भेज दिया। और वह चाहता था कि "वह सब छीमी से हम पेट भरलें जिनको सूअर खा लेता है।" पर कोई उसको कुछ न देता था। तब उसको चेत हुआ और वह सोचने लगा कि हमारे बाप का यहाँ इतना अलेलह रोटी तैयार होता है कि कितना मजदूर लोग पेट भरके खाता है और बचा के रखता भी है और यहाँ हम भूखा मरता है। हम अभी उठता है और हमारा बाप का पास जायगा और कहेगा कि 'ए बाबा, भगवान का सामने और आप का सामने हम पाप किया; हम फिर आपका बेटा कहाने जोग नहीं। हमको अपना मजदूर लोग में से एक के नाई रखिये। तब वह उठकर अपना बाप का पास चला; पर वह दूर ही था कि उसका बाप उसको देख कर दया किया, और दौड़ कर उसका गला में लिपट गया और उसको चूमने लगा। बेटा कहा—ए बाबा, भगवान का सामने और आपका सामने हम पाप किया और आपका बेटा कहाने का जोग हम नहीं। पर बाप अपना चाकर लोग में से एक से कहा कि सब से अच्छा कपड़ा इसको पहिनाओ, और उसका हात में अँगूठी और पाँव में जूता। और चलो हम लोग खाय और आनंद करे, क्योंकि यह हमारा बेटा मरा ऐसा था फिर जीया है, हेराय गया था फिर मिला है। तब वे लोग सुखित मन से आनंद करने लगा।

उसका बड़का बेटा उस खेत में था। घर लौटता हुआ जब वह घर का नजदीक पहुँचा, तब वह नाचने-बजाने का आवाज सुना। वह अपना नौकर लोगों में से एक आदमी को बुलाकर पूछा—यह क्या है ? वह नौकर उससे कहा कि—आपका भाई आया है, और आपका बाप जेवनार किया है, क्योंकि उसको भला-भला पाया है। इससे बड़का बेटा गुस्सा किया और घर का भीतर जाने न चाहा। तो उसका बाप बाहर आकर उसको मनाने लगा। वह अपना बाप को जवाब दिया कि हम इतना बरस से आपका टहल करता है, और आपका हुकम का बरखिलाफ

काम हम कभी नहीं किया, पर आप हमको कभी एक पठरू न दिया कि हम अपना दोस्त लोग का संग मिलकर खाना-पिना करे। पर आपका यह बेटा जो रंडी लोग का साथ आपका धन को उड़ा दिया, वह जैसा आया तैसा ही आप उसके लिए बढ़िया जेवनार किया है। बाप उससे कहा—ए बेटा, तुम सदा हमारा साथ है और जो कुछ हमारा है वह सब तुम्हारा ही है। पर खुशी मनाना और आनंद करना मुनासिब है, क्योंकि यह तुम्हारा भाई मरा ऐसा था, फिर जिया है, हेराय गया था, फिर मिला है।

खबरें

(१) रूस का सोवियट सरकार का लंदन में स्थित दूत का द्वारा रूस सरकार सर जान सायमन को मोस्काउ देखने के लिए जो नेवता दिया गया उसको यथा रीति समर्थित करता है। पर उस नेवता को सर जान साइमन ग्रहण करेगा या न इस पर कुछ सिद्धान्त नहीं हुआ। ऐसा सम्भव है कि सर जान साइमन पहिला लंदन से लौटकर हर हिटलर से किया हुआ आलोचना का नतीजा को लंदन का मंत्रिमंडल का समक्ष पेश करेगा, उसका बाद फिर वह रूस का सैर पर ध्यान देगा।

(२) योगोस्लाविया का माल-जहाज "बकानका" को बचाने के लिए और तीन जहाज यात्रा किया है। फ्रांस का उपकूल से ढाई सौ मील दूर उत्तर अटलांटिक महासागर का किसी स्थान से उक्त जहाज अपना आफत का संदेशा बताने के लिए जरूरी बेतार खबर भेजा था।

कलकत्ते की बाज़ारी हिन्दुस्तानी

मैं पेनांग से आ रहा था। जहाज पर दो चीनी थे—एक शंघाई की भाषा बोलनेवाला, दूसरा केन्टन की भाषा बोलनेवाला। वे एक दूसरे की बात नहीं समझते थे, इसलिए मुझे उनके दुभाषिये का काम करना पड़ा। संघाईवाला थोड़ी सी बाजारी हिन्दी जानता था, और केन्टोनो थोड़ी सी अंग्रेजी। लन्दन की सड़कों पर घूमते हुए एक बार मलाया के एक मल्लाह ने और एक बार एक गोरे सैनिक ने मुझे भारतीय समझ कर हिन्दुस्तानी भाषा में सम्बोधन किया था। स्काटलैंड की पहाड़ियों पर एक स्काच इंजीनियरिंग-ओवरसियर ने और ग्रीस में कई ग्रीकों ने—जो रेली ब्रदर्स की कोठी में काम कर चुके थे—मुझसे हिन्दुस्तानी बोली ही में बात की थी। विदेश में जब मैं किसी भी भारतीय को देखता था, तो हिन्दुस्तानी में ही पूछता था—"क्या भाई, हिन्दुस्तानी हो ?" मेरे इस प्रश्न का उत्तर हमेशा हिन्दुस्तानी ही में मिला यदि उत्तरदाता लंका-निवासी या दक्षिणी नहीं था। कभी-कभी दक्षिणी भाई भी, कम से कम इस प्रश्न का जवाब हिन्दुस्तानी में ही देते थे। हाँ, बाद में वे आमतौर से हिन्दुस्तानी में बात-चीत न कर सकने के लिए माफी माँगते थे।

मगर ये सब लोग जिस हिन्दुस्तानी भाषा में अपने भाव प्रकट किया करते हैं, क्या वह विशुद्ध हिन्दी या उर्दू है ? कदापि नहीं। पढ़ने-लिखने की साहित्यिक भाषा में और इसमें काफ़ी अन्तर है। हिन्दी-उर्दू

की उत्पत्ति कैसे हुई, इस लेख में यह विवेचना न करके मैं कलकत्ते की बाज़ारी हिन्दुस्तानी के सम्बन्ध ही में कुछ कहूँगा। जब रेख़ता—उर्दू—दिल्ली के भद्र-समाज की भाषा हो गई, तब मुग़ल-साम्राज्य के जो उच्च अधिकारी दूर के प्रान्तों में तैनात हुए, वे और उनके अनुगामी, नौकर-चाकर और बाल-बच्चे अपने साथ अपनी भाषा भी ले गए। इस प्रकार प्रान्तीय केन्द्रों में सरकारी नौकरों और उनके साथ मिलने-जुलने वाले भद्र-समाज की भाषा भी दिल्ली की ज़बान ही होगई। इस तरह लाहौर, लखनऊ, बनारस, पटना, अहमदाबाद, ढाका, मकसूदाबाद (मुर्शीदाबाद), दौलताबाद और गोलकुंडा के फैशनेबुल समाज में दिल्ली की भाषा की प्रधानता हो गई। दिल्ली से एक के बाद दूसरे अफसरों के आते रहने से धीरे-धीरे इन स्थानों में दिल्ली की भाषा स्थायी रूप से स्थापित हो गई। इसके फल-स्वरूप अठारवीं शताब्दी में और उसके बाद जब मुग़ल-साम्राज्य का पतन हुआ, और एक के बाद एक करके सब प्रान्त दिल्ली की अधीनता से स्वतन्त्र हो गए, उस समय भी उन स्थानों में दिल्ली की बोली की ही प्रधानता बनी रही। राज-दरबार और अधिकारियों से यह बोली जन साधारण में जिनका सम्पर्क सरकार से रहता था—फैली। इस प्रकार बंगाल में हिन्दुस्तानी भाषा का प्रचार हुआ। उस समय तक अदालतों की भाषा फारसी थी। इसलिए जो बंगाली सरकारी नौकरी करना चाहते थे, उन्हें पहले तो फारसी सीखनी पड़ती थी, मगर बाद में विशेषकर अठारहवीं शताब्दी में, उन्हें हिन्दुस्तानी सीखना भी आवश्यक हो गया। जब अंग्रेजों ने बंगाल के शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली तब उन्हें अपने रोजमर्रा के कामों में न केवल फारसी और बंगला से ही काम लेना पड़ा, बल्कि हिन्दुस्तानी सीखना भी आवश्यक हो गया, क्योंकि यहाँ के मुसलमान अधिकारी इसी भाषा को बोलते थे। इसके अलावा मुर्शिदाबाद की बड़ी कोठियों के व्यापारी, जिनके हाथ में प्रान्त का हुंडी का काम और रोज़गार था, प्रायः पंजाब, राजपुताना, अथवा उत्तर भारत के निवासी थे। वे सब हिन्दुस्तानी

भाषा ही इस्तेमाल करते थे। इन सब बातों से बंगाल में हिन्दुस्तानी का प्रचार हुआ। उत्तर-भारत के निवासियों ने भी, जो अपने घरों में लहँदी, पंजाबी, राजस्थानी, ब्रजभाषा, कनौजी, बुन्देली, अवधी, भोजपुरी और मगही आदि बोलियाँ बोलते थे, प्रसन्नता से हिन्दुतानी को भाव-विनिमय का माध्यम स्वीकार कर लिया। अंग्रेजों की अमलदारी के बाद से बंगाल में उत्तरी भारत से जीविका की तलाश में आनेवालों का—न केवल समाज की उच्च-श्रेणी के लोगों का ही, बल्कि निम्न-श्रेणी के लोग भी; जैसे फेरी वाले, दूकानदार, सिपाही, घरेलू नौकर, साधु आदि का तांता सा बँध गया, जिससे यहाँ हिन्दुस्तानी बराबर जोर पकड़ती रही। सन १८०० में जब कलकत्ते के फोर्टविलियम कालेज की स्थापना हुई, तब उसमें हिन्दुस्तानी पढ़ाने की व्यवस्था भी हुई। जर्मन केटलर (Ketelaer) ने लैटिन भाषा में सन् १७१५ में एक हिन्दुस्तानी व्याकरण भी लिखा था जो सन् १७४३ में हालैंड के लेडेन नगर से प्रकाशित हुआ था। उसमें जिस भाषा का वर्णन था, वह बाजारी 'हिन्दुस्ती' थी, जो अठारहवीं शताब्दी के आरम्भिक भाग में सूरत और मुग़ल-साम्राज्य के केन्द्रीय जिलों में बोली जाती थी। बाद में जार्ज हैडले नामी एक अंग्रेज ने १७७२ में हिन्दुस्तानी पर एक पुस्तक प्रकाशित की थी। सन् १७७६ में लन्दन से जे० फर्ग्यूसन ने एक हिन्दुस्तानी 'डिक्शनरी' और ''ग्रामर' प्रकाशित की।

रेलों के बनने से उत्तर-भारत के लोगों की आमदरफ्त बंगाल में बढ़ती गई, और दूकानदारी, रोजगार और मेहनत के कामों में इन लोगों का महत्वपूर्ण हाथ होने से इनके सम्पर्क में आनेवाली बंगाली जनता को—विशेषकर कलकत्ते और अन्य बड़े शहरों में—इनकी बोली से परिचित होना पड़ा। एक तो मारवाड़ी, बिहारी और पूर्बियों की बोली वैसे ही विशुद्ध हिन्दुस्तानी नहीं थी, उस पर बंगालियों के व्यवहार से इस पर बंगला का रंग भी चढ़ गया। बंगालियों को अपनी बात बोधगम्य बनाने के लिए इन उत्तर-भारत के हिन्दुस्तानियों को भी

अपनी बोली में—अज्ञातरूप से—कुछ परिवर्तन करना पड़ा। इस प्रकार कलकत्ते की मौजूदा बाज़ारी हिन्दुस्तानी बंगालियों में अन्य प्रान्तवालों की बात समझने की चेष्टा, और अन्य प्रान्तवालों में बंगालियों को अपनी बात समझाने की कोशिश से स्थापित हुई, फलतः इसमें एक विचित्र खिचड़ी होना स्वाभाविक ही है।

बंगाल की पौने पाँच करोड़ अबादी में बीस लाख लोगों की भाषा हिन्दी या उर्दू है। इसके अतिरिक्त पैंतालिस हज़ार राजस्थानी, गुजराती, मराठी और पंजाबी आदि बोलने वाले हैं। जो प्रायः हिन्दुस्तानी का व्यवहार करते हैं। शहरों और देहातों में इन लोगों की उपस्थिति ही हिन्दुस्तानी के प्रचार का साधन है।

बंगाली मुसलमानों के भद्र समाज में भी उर्दू सुसंस्कृत भाषा गिनी जाती है। ढाका-युनिवर्सिटी में तो उसे एक 'क्लासिक' भाषा का पद प्रदान किया गया है।

मुसलमानों के मकतब और मदरसे सदा से उर्दू-अध्ययन के केन्द्र रहे हैं, और उनके द्वारा आस-पास में हिन्दुस्तानी का प्रचार होता रहता है। बंगाली मुसलमानों में उर्दू जानना सभ्य होने की निशानी समझी जाती है। अर्ध-शिक्षित बंगाली मुसलमान यह दिखलाने के लिए कि वह बिलकुल गँवार नहीं है, बाजारी हिन्दुस्तानी, या उससे कुछ अच्छी हिन्दुस्तानी सीखते और बोलते हैं। यूरोपियन लोग जिनका काम-काज शहरों में होता है, थोड़ी सी बाजारी हिन्दुस्तानी बोलना सीखकर बंगाल के किसी भी भाग में अपना काम चला सकते हैं। उनके नौकर चाहे वे बंगाली मुसलमान हों, या चटगाँव के बौद्ध हों या आराकानी हों, या उड़िया हों अथवा उत्तर-भारत के हों—सभी—इस बाजारी हिन्दुस्तानी को बोल और समझ लेते हैं। हाँ, मदरासी नौकर अपने मालिकों से अंग्रेज़ी बोलते हैं, मगर वे भी आसानी से हिन्दुस्तानी सीख लेते हैं।

कलकत्ता सार्वदेशिक नगर है, जहाँ संसार के सभी देशों के आदमी

बसते हैं। कलकत्ता और हवड़ा की तेरह लाख की आबादी में बंगाली-भाषा-भाषी आधे से कुछ अधिक—५२·२ प्रतिशत हैं। बिहार और उत्तर-प्रदेश के हिन्दुस्तानी बोलने वाले ३७·२ प्रतिशत हैं। इसके अतिरिक्त ७००० राजस्थानी बोलने वाले, ३००० पंजाबी बोलने वाले, ६००० गुजराती बोलने वाले और १५०० नेपाली बोलने वाले हैं। मगर ये सब हिन्दुस्तानी जानते हैं। इस प्रकार कलकत्ते की दो भाषायें हैं—बंगला और हिन्दुस्तानी। नगर के कई भागों में—विशेषकर व्यापारिक हिस्सों में, बंगला की अपेक्षा हिन्दुस्तानी की प्रधानता है। कलकत्ते में रहने वाले उत्तरी भारत के लोगों में बहुत से लोग बंगला नहीं बोल सकते, यद्यपि उनमें से बहुतेरे बंगला समझ लेते हैं, मगर कलकत्ता नगर में रहने वाले प्रायः सभी बंगाली टूटी-फूटी हिन्दुस्तानी बोल लेते हैं। कोई बंगाली सज्जन जब अपने उड़िया नौकर से बात करेगा, तब बंगला भाषा बोलेगा, मगर जब वह अपने मगही या मैथिल नौकर से बात करेगा, तो हिन्दुस्तानी भाषा काम में लायगा। यद्यपि बंगला और बिहारी बोलियों में बहुत कुछ समानता है, वे एक ही परिवार की हैं, मगर इन दोनों भाषा-भाषियों के पारस्परिक भाव-परिवर्तन का माध्यम दिल्ली की जबान—विकृत रूप में—बनती है। कलकत्ते के किसी धनी बंगाली परिवार को ले लीजिए। उसके घर में कम से कम आधी दर्जन विभिन्न बोलियाँ बोली जाती हैं। घर के मालिक प्रायः कलकत्ते की बोल-चाल की बंगला बोलते होंगे। उनका मैनेजर पूर्वी-बंगाल का—पूर्वीय बंगला बोलने वाला व्यक्ति होगा। नौकरानियाँ प्रायः पश्चिमी बंगाल की—विशेषकर मिदनापुर या बांकुड़ा जिले की होंगी। नौकर प्रायः बंगाली नहीं होते। यदि बंगाली हुए, तो वे भी मिदनापुर या बाँकुड़ा जिले के होंगे, अन्यथा वह बिहारी या उड़िया होंगे। रसोइया पश्चिमी बंगाल का या उड़िया अथवा कभी-कभी मैथिल ब्राह्मण होगा। माली उड़िया बिहारी होगा। साईस नीच जाति के बिहारी या उत्तर-प्रदेश के पूर्वीय जिले के होंगे। कोचवान पूर्वीय हिन्दी बोलने वाला मुसलमान

होगा। मोटर ड्राइवर बंगाली हिन्दू या पंजाबी सिक्ख होगा। दरवान आम तौर से भोजपुरी ब्राह्मण, या कभी-कभी सिक्ख अथवा गुरखा होता है। ये सब लोग केवल बंगाली और उड़ियों को छोड़कर—आपस में बाज़ारी हिन्दुस्तानी ही में बात करते हैं। नया आया हुआ देहाती कुछ दिन तक अपनी बोली बोलता है। मगर अन्य लोग उसकी बोली नहीं समझ पाते, इसलिए उसे मजबूर होकर शीघ्र ही हिन्दुस्तानी सीख लेनी पड़ती है।

कलकत्ते की भीड़ में—रेस के मैदान में, फुटाबल के खेल में, ट्रामों और बसों पर बंगाली, गुजराती, सिक्ख, अफग़ानी, चीनी, तामिल, बग़दादी यहूदी, आर्मीनियन और ऐंग्लो-इण्डियन आदि सभी मिले-जुले दिखाई देते हैं। ये सब एक दूसरे से बातें, हँसी-दिल्लगी और कहा-सुनी आदि में बाजारी हिन्दुस्तानी ही व्यवहार करते हैं। इनमें से कोई भी—यहाँ तक दिल्ली का रहने वाला भी जो इस भीड़ में आ फँसता है—व्याकरण की शुद्धता का खयाल नहीं रखता। यहीं बाजारी हिन्दुस्तानी भारत के जनतन्त्र की (democratic) भाषा है। यह एक जीती-जागती और जोरदार जबान है।

जब कोई बोली वास्तव में सर्वसाधारण जनतान्त्रिक बोली और हाट बाजार की बोली बनती है, तब वह किसी एक संस्कृति विशेष के सम्बन्ध से नहीं बँधी रहती है। वह उच्चारण, शब्द-विन्यास और मुहाविरों में भी किसी विशेष स्टैंडर्ड पर स्थिर नहीं रखी जा सकती। हाँ, जिस आदि भाषा से यह बोली निकलती है, उसकी इस सजीव बोली में कुछ विशेताएँ जरूर होती हैं। वे ही उसे आदि भाषा से सम्बन्धित रखनेवाली कड़ी हैं। कलकत्ते की बाजारी हिन्दुस्तानी एक प्रकार से विशुद्ध हिन्दी और बंगला का समझौता है। यहाँ की हिन्दुस्तानी असल में पूर्वीय युक्त-प्रदेश और विहार के निरक्षर जनसाधारण की व्याकरणहीन हिन्दी है, जिस पर बंगला के उच्चारण, शब्दों और मुहाविरों का रंग चढ़ा है।

शुद्ध हिन्दी-भाषा से बाजारी हिन्दुस्तानी का अन्तर बोलने वाले

की मातृ-भाषा और उसके हिन्दी ज्ञान के परिमाण के अनुसार घटा-बढ़ा करता है। बंगाली, अंग्रेज, उड़िया, तामिल, चीनी, आदि हर एक व्यक्ति इस भाषा को व्यवहार करते समय स्वभावतः उस पर अपना विशेष रंग चढ़ा देता है। मगर इतना होते हुए भी इन सब की बोलियों की तह में एक साधारण आधार है, जो उन्हें बोधगम्य बनाता है। यह आधार इस बात में है कि व्याकरण के रूपों का कम-से-कम व्यवहार किया जाय, और रूढ़ि शब्दों का व्यवहार न करके साधारण शब्दों और साधारण मुहाविरों के द्वारा कम-से-कम शब्दों में बात कही जाय।

यह मानना पड़ेगा कि शुद्ध, बामुहाविरा हिन्दुस्तानी सीखना आसान बात नहीं है। हिन्दुस्तानी के व्याकरण की जटिलता उसके शब्दों की विभिन्नता और मुहाविरों की बाहुलयता आदि के कारण, हिन्दुस्तानी सीखना, फारसी सीखने से कहीं अधिक कठिन है। पुराने समय में बंगाल के मुसलमान आपस के पत्र-व्यवहार में उर्दू का व्यवहार न करके फारसी का ही व्यवहार करते थे। जिनकी मातृ-भाषा हिन्दुस्तानी नहीं है, उन्हें काफी सावधानी और परिश्रम के बाद शुद्ध हिन्दुस्तानी बोलने आती है। कवि मीरतकी तो यहाँ तक कहते थे कि दिल्ली वाले के अतिरिक्त किसी को उर्दू-भाषा नहीं आ सकती। एक अन्य उर्दू कवि ने भी कहा था:—

> 'बाज़ों का गुमाँ है कि हम अहले-जबाँ हैं,
> दिल्ली नहीं देखी, ज़बाँ-दा ये कहाँ हैं ?''

जिस भाषा में केवल दो ही लिंग हैं, जिसके शब्दों के विभक्ति-रूप कठिन है, जिसकी क्रिया-रचना जटिल है तथा जिसमें संस्कृत, अरबी, फारसी, आदि के शब्द मिले हैं, उसका भारत के समान महादेश की राष्ट्रभाषा या कौमी जबान बनाना कठिन है। इसके लिए यह आवश्यक है कि उसमें सरलता उत्पन्न की जाय। बे पढ़े-लिखे, जनसाधारण ने अपनी आवश्यकता के अनुसार—व्याकरण और विद्वानों की परवा किए बिना—उसमें सरलता पैदा कर दी है। और वह सरल भाषा ही बाजारी

हिन्दुस्तानी है। हिन्दुस्तानी को राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त करने में अपनी बहुत सी प्रान्तीय विशिष्टताओं का त्याग करना होगा, और अखिल भारतीय जामा पहिनना होगा। राष्ट्र-भाषा का आकार-प्रकार देश के जनसाधारण के द्वारा—कलकत्ते-जैसे नगरों की सड़कों और बाजारों में इकट्ठी होने वाली भीड़ के द्वारा—होगा।

अच्छा, अब जरा इस बाजारी हिन्दुस्तानी की बानगी देखिए। सन् १८६७ के एक बंगाली अखबार में निम्न-लिखित विज्ञापन प्रकाशित हुआ था:—

इस्ताहार

"सब कोई को खबर दिया जाता है कि शहर कलकत्ता का उत्तर डिवीज़न का शामिल मोक़ाम अमरतल्ला गोविन्दचन्दधर लेन में इगारह नम्बर का जमीन, ब्लाक नम्बर इगारह, होल्डिंग नम्बर एक सौ तिरानबे, ओ जमीन का नाम पाँच काठा, उसका कुछ कमी होय और बेशी होय, ओ जमीन और सुरती बागान के रहनेवाला उसका मालिक बाबू हरी नारायण चक्करवर्ती बेचने मांगता है। ये बी इस्ताहार दिया जाता है, जो कोई को कुछ केलेम थाने दावी रहे, याने अगर ओ जमीन किसी का पास बंधक रहे, वह सक्स को चाहिए जे नीचे सही करने वाला लोगों को दस रोज का बीच में इसका हाल जनावे। ये मियाद जाने से कुछ दावी नहीं सुना जायेगा और ओ अदालत में बी मन्जूर नहीं होयेगा।"

कलकत्ते में मथूओं का चलता-फिरता एक मेला होता है, जिसमें तरह-तरह के स्वांग दिखाये जाते हैं। यह 'जलिया-पोंड़ा की स्वांग' कहलाता है। इसमें एक काबुली सूदखोर के स्वांग में कांबुली कहता है—

"मेरा नाम गाफूर मियाँ। हम जब मुलुक से आया, साथे लाया थोड़ा-से हींग।

बड़े बाजार का सड़क में बैठके, दिनभर ओही चीज बेचके नफा से पाँच पैसा लेके, गुजराते हम दिन।

जे रोज एक ठो रूपिया हुआ, ओही रोज हम कसम खाया 'ये ही रूपैया तोड़ाये, तो हम हरामखोर'।

एक आदमी नाम रामू कहार, रूपिया—ठो उसको दिया उधार, रोज दू पैसा सूद दियाऊ वरिस भोर।

सूद में सब मिला जेतना, उधार हम दिया उतना, सूद लिया रूपया में चार आना।

अभी हम महाजन हुआ, महीना में सूद मिलता तीन सौ रूपैया, जिसको देता, लेता उसको गारू, जोरू, धोती और उड़ना।

इये साला बदमास, रूपिया लिया नौ मास, सूद दिया थोड़ा-बहुत दू सौ रूपैया।

और नेही सूद देता—ओही वास्ते साला को गाली देता, और डंडा से ठंडा करने ये ही दोस्त लोग को लाया। ले आओ साला रूपिया।"

कलकत्ता नगर के रंग-ढंग के ऊपर इसी स्वांग में एक परदेशी (उत्तरीय भारतवासी) कहता है—

"दिल में एक भावना से कलकत्ता में आया,
कैसन कैसन मजा हम हियाँ देखने पाया।
आरी समाज, ब्राह्म समाज, गिरजा, महजीद,
एक लोटा में मिलता—दूध, पानी सब चीज।
छोटा बड़ा आदमी सब, बाहर करके दाँत,
झपट मार के बोलता है, अंगरेजी में बात।
उड़िया आदमी लोग अंगरेजी में बोलता है
'कम हियर बाबू!
कलकत्ता के काम देख के हम भी हुआ काबू।" आदि।

एक अन्य गीत बंगालियों के सम्बन्ध में है—

"ऐसा कलकत्ता, बाबू कभी ना देखा जी।
मुंडा छोड़ के अंडा खाता, होटल में सब कोई जाता जी।

गंगा माई नगीच में बहता, कभी न उसमें नहाता जी।
बोलता—उसको मैला पानी बदन मैला करता जी।
देवता ब्राह्मण मानता नेही, बोलता भुतनी काली माई।
हिन्दूआनी छोड़ दिया सब, खिस्टानी नहीं सकता जी।
दारू पी के पाँट-पाँट, सब बाबू का मेजाज छोटा लाट।
जोरू से कजिया, माई को लाठी, बाप को साला बोलता जी।

× × ×

एक बंगाली सज्जन, जिन्होंने कभी हिन्दुस्तानी नहीं सीखी, मगर बिहारियों के संसर्ग से जो हिन्दुस्तानी बोल लेते हैं, एक बाइबिल के किस्से को इस प्रकार बयान करते हैं—

"एक आदमी का दू ठो लेड़का था। उससे छोटा लेड़का उसका बाप को बोला—'बाबा हमारा विषय का (विषय = सम्पति) हिस्सा हमको दे दीजिये।' ओही बात सुनके उसको बाबा दोनों लेड़का को भाग-बटवारा करके दिया था। उसको थोड़ा दिन बाद छोटा लेड़का उसको विषय का हिस्सा एक साथ करके दूर देस पर चला गिया था और उस देस में बदखियाली करके सब विषय खरच कर दिया।"

इसी कथा को एक बेपढ़े मैथिल रसोइये ने हिन्दुस्तानी में इन शब्दों में कहा था—

"एक आदमी को दो लड़का रहा। छोटाका बाप से कहा कि हमारा हिस्सा तुम दे दो। बाप लड़कवन का हिस्सा बाँट दिया। फिर छोटा लड़का अपना सब कुछ लेकर परदेस चला गिया, और वहाँ नबाबी से सब उड़ा दिया।"

राष्ट्रभाषा का प्रश्न

हमारी विशाल मातृभूमि के सभी प्रान्तों से आकर हम लोग भारत के पश्चिम व्यापार-केन्द्र इस करांची नगर में मिले हैं। सुदूर पूर्व के बंगाल प्रान्त से आये हुए इस नगण्य राष्ट्रभाषा सेवक का सादर अभिवादन आप लोग ग्रहण करें। हमारी राष्ट्रभाषा भारत-भारती हिन्दी की इस यज्ञभूमि में इस भाषा और भाषा-गत परिस्थिति के विषय पर कुछ चर्चा करने को आप लोगों ने मुझे बुलाया है। इस बुलावे को मैं अपने लिए अहोभाग्य समझता हूँ। मुझे हिन्दी का ज्ञान नहीं है जो हिन्दी मैं किसी सूरत से बोल लेता हूँ, वह टूटी-फूटी कलकतिया बाजारू हिन्दी ही है;—हिन्दी के बारे में कुछ बोलने का अधिकार—खास करके हिन्दी के विद्वानों के सामने मेरा तो है नहीं। पर मैं इतना ही कह सकता हूँ, कि मैं हिन्दी का प्रेमी हूँ, और आजकल के भारत के राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक जीवन में हिन्दी के महत्व को भली भाँति मैं समझता हूँ। केवल प्रेम और पारिपार्श्विक का कुछ ज्ञान, इन दोनों के अधिकार से आप लोगों के समक्ष खड़े होने की हिम्मत मुझे होती है। इसके अलावा, हिन्दी भारतवासियों की साधारण सम्पत्ति बन गयी है। अब यह केवल पछांह के लोगों के लिए पूर्वजों से प्राप्त एक खास मीरास अर्थात् रिक्थ नहीं है। मध्यदेश से—पूर्व पंजाब, पश्चिम संयुक्त-प्रदेश तथा बुन्देलखण्ड—साहित्यिक भाषा के रूप में पश्चिम पंजाब से बंगाल तक और हिमालय से विन्ध्य तक इसका फैलाव हो गया है; केवल इस विशाल भूखण्ड में भी यह सीमित नहीं रही; गुजरात,

सिन्ध, काश्मीर, नेपाल, बंगाल, आसाम, उड़ीसा में, महाराष्ट्र में और द्राविड़भाषी आन्ध्र, कर्णाट तमिलनाडु और केरल में, इसका प्रचार बढ़ता जा रहा है; समग्र भारतीय जनगण जिसमें इसे अपना लें, इसलिए भीतर से प्रेरणा और बाहर से प्रचार भी हो रहा है। इस कारण हिन्दी के प्रश्नों पर विचार करने के लिए हिन्दीप्रान्त के बाहर के लोगों की अपेक्षा है। हिन्दी को भारत के प्रान्तिक जनों में सबकी बोली यदि बनना हो, तो सबकी चिन्ता, ध्यान-धारणा और सबकी मिलित चेष्टा की आवश्यकता होगी। भारत के हर प्रान्त के हिन्दी-प्रेमी और हिन्दी की समस्याओं को समझने वालों के लिए विवेचन, विचार और सिद्धान्तों की इन समस्याओं के समाधान के लिए जरूरत है। आज के दिन एक बंगभाषी को, जो कि हिन्दी ही को भारत की राष्ट्रभाषा मानता है, अपनी राय देने के लिए आप लोगों ने आज्ञा दी है। यह भी उचित होगा, कि आयन्दा दूसरे अहिन्दी प्रान्तों के प्रतिभूओं को आप लोग बुला भेजेंगे; और अन्त में, राष्ट्रभाषा हिन्दी के रूप के निर्णय करने के लिये, और भारत के आगामी जनतन्त्र के वास्ते इसे उपयोगी बनाने के उद्देश्य से, एक अन्तःप्रान्तीय "सुमन्त्र-सभा" या परामर्श-समिति बनानी पड़ेगी। भारत के अहिन्दी प्रान्तों के एक साधारण प्रतिनिधि के रूप में, इस सभा में उपस्थित होना, मैंने अपना कर्तव्य ही समझा है।

इस समय भारत की राष्ट्र-परिस्थिति, एक विशेष संकटपूर्ण अवस्था में आ पहुँची है। इस परिस्थिति के काले रंग से सब कुछ रंग सा गया है। राष्ट्रीय जातीय जीवन का आधार—उसकी प्रतिष्ठा है। देश की राष्ट्र-व्यवस्था यदि बिगड़ी, तो सब कुछ बिगड़ा। भारतीय राष्ट्र को इस समय विध्वस्त और सम्पूर्ण रूप से विनष्ट कर देने की अपचेष्टा चल रही है। भारतीय एकता का एक मुख्य साधन हिन्दी ही बन चुकी है, इसलिए भारतीय राष्ट्र के विरोधी हिन्दी के विरोध में अपनी पूरी शक्ति का प्रयोग कर रहे हैं। इसका फल यह हुआ है कि हिन्दी की स्वाभाविक गति में रुकावट डालने वाली कुछ नई कठिनाइयाँ दिखाई पड़ रही हैं। इनमें

सबसे हानिकर यह है कि हम लोगों में आदर्श-विपर्यय आ गया है। हमारा दिग्भ्रम होता जाता है, हम किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाते हैं। भारत के कुछ मुसलमान राजनीतिक, जिनका आदर्श सचमुच इसलाम धर्म का नहीं है, परन्तु विदेशी सरकार के प्रसाद से हिन्दू प्रभृति समस्त भारतीय जनता पर अपने दल का कट्टर आधिपत्य कायम करना ही जिनका एक-मात्र आदर्श या उद्देश्य है, वे इस वक्त बहुमत मुसलमान सम्प्रदाय के कर्णधार बने हैं। उनकी ओर से और हमारी तरफ से उन्हें खुश रखने की नीति के कारण प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से हिन्दी पर अब सख्त हमला हो रहा है—हिन्दी संस्कृति पर प्रबल आघात हो रहा है। राष्ट्र-भाषा के क्षेत्र में भी प्रश्न वही है—हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न। उर्दू अर्थात् मुसलमानी हिन्दी—सम्प्रदाय विशेषमें निबद्ध हिन्दी, विदेशी शब्दों से और विदेशी भावों से भरपूर हिन्दी—भारत के बहुसंख्यक जनों की शुद्ध हिन्दी, भारत के जातीय भाव से अनुप्राणित हिन्दी को कहाँ तक रोकेगी, अङ्गरेज सरकार तथा हमारे कांग्रेसी शासन के पूरे समर्थन से कहाँ तक इसे रोक सकती है, यही हिन्दी के सामने आज सबसे कठिन समस्या है। इस समस्या को हल करने के लिए 'करेज आफ डिसपेयर' अर्थात् नैराश्य-जनित दुस्साहस का आश्रय लेकर महात्मा गांधी ने देवनागरी तथा अरबी इन दोनों लिपियों में साथ-साथ लिखी जानेवाली, "हिन्दुस्तानी" को हिन्दी के स्थान पर बिठा देने की सलाह दी है। परन्तु इससे भी यह बात तय हो नहीं सकी, समस्य, और भी जटिल बन रही है। इसमें तो सन्देह नहीं कि हिन्दू-मुसलमान समस्या का हल हो जाने से भारत के दुखों का अवसान हो जायगा। भाषा के क्षेत्र में इस समस्या का समाधान कहाँ हो सकता है, यह हमारे लिए विचारणीय है। हिन्दी-उर्दू-हिन्दुस्तानी की समस्या से सम्पर्कित हिन्दी की लिपि का सवाल भी है, पर उर्दू की अरबी लिपि के मुकाबले में उसे हल करना वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सहल है। व्यवहारिक दृष्टिकोण से भी यह सहल होना चाहिये—यदि हम ज्ञान तथा दृढ़ता के साथ अपने आदर्श पर अटल रहें। लिपि के बारे में नागरी और

अरबी के अतिरिक्त रोमन लिपि का भी प्रश्न आया है। भारतीय जनता के मानसिक, आध्यात्मिक तथा व्यवहारिक लाभ अथवा हानि की दृष्टि से, दूरदर्शी एवं निरपेक्ष वैज्ञानिक अवलोकन के साथ रोमन लिपि की उपयोगिता का विचार होना चाहिये। यहाँ इतना ही काफी होगा कि यदि नागरी के सामने अरबी या उर्दू लिपि का प्रश्न नहीं रहता, तो रोमनवाली बात लाने की आवश्यकता या अवसर ही नहीं आता। हिन्दी-संसार के कुछ प्रान्तिक जनपदों के शिक्षित जनों के अवचेतन में एक नई भावना धीरे-धीरे उत्पन्न हुई है, जो "विकेन्द्रीकरण" के नाम से प्रकट हुई है। इसके सम्बन्ध में यह विचारणीय है कि इस विकेन्द्रीकरण का मामला कहाँ तक जनपदों की जनता की हृदय की आकांक्षा से उद्भूत हुआ है, और कहाँ तक इससे जनता मानसिक तथा सांस्कृतिक लाभ उठा सकेगी? केवल विकेन्द्रीकरण के लिए विकेन्द्रीकरण समर्थन-योग्य नहीं जँचता।

और एक बात है। हिन्द को सबकी बोली बनाने के लिए चालू हिन्दी के प्रयोगों के आधार पर इसके व्याकरण को कुछ सरल करवा देने की जरूरत भी महसूस होती है।

और भी कई प्रश्न हैं। हिन्दी कहाँ तक और कैसे हमारे राष्ट्रीय जीवन में तथा हमारी शिक्षा में अङ्गरेजी का स्थान ले सकती है, विभिन्न प्रान्तिक मातृभाषाओं के समक्ष कहाँ तक इसके पठन-पाठन की व्यवस्था हो सकती है, राष्ट्र के किन-किन विभागों में हिन्दी को हम अनिवार्य कर सकते हैं और किन-किन विभागों में इसे हमें ऐच्छिक रखना पड़ेगा, इन सब प्रश्नों पर हमें राय देनी है, और हमारी राय जैसे कार्यकर हो, ऐसे कार्यक्रम हमें सुझाने चाहियें।

राष्ट्रभाषा के विषय में कुछ कहने के पहले दो स्वतःसिद्ध प्रतिज्ञाएँ हमें मान लेनी चाहियें—एक तो यह है कि भारतवर्ष एक, अखण्ड और अविभाज्य राष्ट्र है; भौगोलिक दृष्टि से यह एक और स्वतन्त्र देश है, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से इसके अधिवासी एक ही नेशन या जनगण अथवा राष्ट्र बने हैं। यह केवल 'कानफेडरेसी' अर्थात्

गणसंघ या राष्ट्रसंघ नहीं है, वरन् उससे घनिष्टरूप से भी सम्बद्ध विभिन्न गणों के समवाय से गठित एक महागण वा राष्ट्र है। दूसरी प्रतिज्ञा यह है कि एक-गणता अथवा एक-राष्ट्रीयता का एक आवश्यक संयोग-सूत्र है—कोई एक भाषा; चाहे वह भाषा उस जनगण के सबकी घरेलू बोली या एकमात्र बोली हो, चाहे वह राष्ट्र की एक से अधिक विभिन्न घरेलू बोलियों और साहित्यिक भाषाओं में से सबके द्वारा स्वीकृत अन्तःप्रान्तीय भाषा और प्रधान राष्ट्र-परिषद् की ओर से प्रतिष्ठित भाषा हो। एकगण्य या एक-राष्ट्रीयता के प्रतीक-स्वरूप ऐसी एक भाषा को माने बिना काम नहीं चल सकता; और यह भाषा देश या राष्ट्र ही की कोई भाषा होनी चाहिये। आत्म-सम्मान-सम्पन्न किसी सभ्य और स्वतन्त्र राष्ट्र में दूसरे और किसी सभ्य देश या राष्ट्र की भाषा व्यवहार करना अस्वाभाविक ही मालूम होगा। इन दोनों स्वतःसिद्धों में से पहले को, सिवाय कुछ मुसलिम-लीगी मुसलमानों के, सब भारतवासियों ने मान लिया है; और दूसरे के सम्बन्ध में साधारणतया एकमत होते हुए भी कहीं कुछ मतभेद दिखाई देता है। ऐसे कुछ सज्जन हैं, जिनके विचार में इस समय जैसे अङ्गरेजी भारत के शिक्षितों की प्रमुख भाषा बन रही है, उसे वैसे ही रखना ठीक होगा। इनकी राय यह है कि भारत में सदा के लिए अङ्गरेजी को ही अन्तःप्रादेशिक भाषा रक्खा जाय। परन्तु ये सज्जन देश की अनपढ़ जनता पर अपनी कृपा-दृष्टि नहीं डालते। भारत में एक प्रति-शत से ज्यादा अङ्गरेज़ीदाँ नहीं हैं। किसी भारतीय भाषा को अपनाने में भारत की अशिक्षित प्रजा को उतनी कठिनाई नहीं होती, जितनी कि अङ्गरेजी ऐसी विदेशी भाषा के सीखने में। उत्तर भारत के आर्यभाषियों के लिए यह तो एक खास बात है कि बगैर ज्यादा तकलीफ उठाये हुए, जीवन की और मामूली अभिज्ञताओं की तरह ही काम-चलाऊ हिन्दी को वे ज्यों-का-त्यों सीख लेते हैं—आर्यभाषियों के लिए हिन्दी सीखना कुछ बड़ी बात नहीं होती। दक्षिण के द्राविड़भाषी लोगों के लिए हिन्दी सीखना अपेक्षाकृत कठिन होता है, यह सत्य है। पर द्राविड़ लोग भी सरल

व्याकरण की चालू हिन्दी निहायत आसानी से सीख लेते हैं, जब इन्हें अङ्गरेजी के मोह से छुटकारा मिलता है और हिन्दीवालों के सम्पर्क में ये आते हैं। द्राविड़ भाषाओं से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का प्रकृति-मूलक या गठन-मूलक मेलजोल विद्यमान है जो कि अङ्गरेजी और द्राविड़ भाषाओं के बीच नहीं है। राजनीतिक कारणों से अङ्गरेजी सीखने की आदत यदि बदल दी जाय, तो भाषातात्त्विक दृष्टि से द्राविड़वालों के लिए हिन्दी या और कोई भारतीय आर्य भाषा सीखना सहल ही होगा।

अस्तु, भारत की एक-राष्ट्रीयता तथा भारतवासियों में राष्ट्र-भाषा के रूप में किसी भारतीय भाषा की आवश्यकता—इन दोनों विषयों पर अधिक बोलने की ज़रूरत नहीं है। इस समय जितनी भारतीय जीवित भाषाएँ हैं, उनमें हिन्दी ही को अन्तःप्रान्तिक या राष्ट्रभाषा की यह मर्यादा मिल चुकी है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। विभिन्न प्रदेशों से आये हुए दो भारतवासी जब इकट्ठे होते हैं, यदि वे अङ्गरेजी-शिक्षित अथवा संस्कृतज्ञ पंडित नहीं होते, तो ज्यादा सम्भावना यही रहती है कि वे हिन्दी ही में बात करते हैं—वह हिन्दी चाहे शुद्ध हो, चाहे मुसलमानी ढंग की हो, चाहे टूटी-फूटी कलकतिया या बम्बइया या दक्खिनी बाजारू हिन्दी हो। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास और लाहौर में बनी हुई हिन्दुस्तानी या हिन्दी फिल्में, भारतवर्ष के सैकड़ों शहरों और कस्बों में दिखाई जाती हैं, और हजारों महाराष्ट्र, बंगाली, उड़िया, नेपाली और तेलुगु और कन्नड और कभी-कभी तमिल लोग भी इन्हें बड़े चाव के साथ देखने, और इनके गाने आदि सुनने जाते हैं। हिन्दी फिल्में भारत के बाहर लङ्काद्वीप, मौरिशस्, दक्षिण और पूर्वी अफ्रिका, मलाया और फिजी, ब्रिटिश गायना, त्रिनिदाद आदि दूर देशों में, जहाँ भारतीय लोग बसे हैं, बड़ी लोकप्रिय होती हैं। भारत के बेघरबार के साधु-सन्त और फकीर लोग, जो कि तीर्थ से तीर्थान्तर घूमते हैं, और सारे भारतवर्ष की यात्रा करते फिरते हैं, हिन्दी का ही व्यवहार करते हैं। इन सब बातों से, हिन्दी की प्रतिष्ठा सर्वत्र दीख पड़ती है—क्या समग्र उत्तर भारत में, क्या दक्षिण के बड़े-बड़े शहरों में

और प्रधान तीर्थ-क्षेत्रों में।

न केवल भारत में हिन्दी का इतना प्रसार है—भारत से बाहर यदि किसी भारतीय भाषा की सार्वजनीन बोधगम्यता है तो हिन्दी ही की है। बर्मा में जाइये—वहाँ बंगाली, बिहारी, हिन्दुस्तानी, पंजाबी, सिन्धी, मारवाड़ी, गुजराती, महाराष्ट्रीय, उड़िया, नेपाली तथा तमिल, मलयाली और तेलुगु बोलनेवाले मिलेंगे। पड़ोस के प्रान्त होने के कारण कभी-कभी कुछ बर्मियों में बङ्गला से परिचय दिखाई देता है; पर ज्यादातर हिन्दी ही को न केवल भारतीयों में बल्कि बर्मियों में भी चालू देखियेगा। रंगून में एक बर्मी मोटर-ड्राइवर से मैंने बंगला में कुछ कहा, जवाब में वह बोला—"जो 'कला' बात सब 'कला' लोग बोलता है, वही बोलो", अर्थात् हिन्दी में बोलो। (बर्मी लोग विदेशियों को, खास करके भारतीयों को, 'कला' कहते हैं।) विभिन्न जाति की जहाज कम्पनियों के जहाजों में देखिये; जहाँ खलासी और मल्लाहों में भारत के विभिन्न प्रान्तों के लोग हैं और साथ-साथ पठान, मलाई, चीनी, अरब, सोमाली इत्यादि एशिया तथा अफ्रिका के बहुतेरे लोग एकत्र होते हैं, ऐसे संयोग में यदि भारतीय लोग संख्या में प्रबल हों, तो और सब भाषा छोड़, हिन्दी ही अधिकतर व्यवहृत होगी। प्रवासी भातीय जहाँ-जहाँ ज्यादातर बसे हैं जैसे ब्रिटिश मलाया में, फिजी में, मौरिशस् में, पूर्व और दक्षिण अफ्रिका में, त्रिनिदाद में, ब्रिटिश गायना में, वहाँ हिन्दी ही का बोलबाला है; कहीं-कहीं तमिल्-नाडु के लोग अधिक होने के कारण, तमिल् भाषा भी कुछ सुनाई देती है, पर इनमें भी हिन्दी बोलने की प्रवृत्ति काफी दिखाई देती है। भारत के बाहर के देशों में हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ निकलती हैं, यह सुनकर भारतवासियों को हर्ष होगा। कुछ प्रान्तीय भाषाओं के पत्र निकलते थे और अभी भी निकलते हैं, पर धीरे-धीरे, ज्यों-ज्यों वहाँ भारतीय प्रवासी अपनी एकता के विषय में जागृत होते जा रहे हैं, त्यों-त्यों इनमें हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ और हिन्दी का पठन-पाठन बढ़ता जा रहा है। अङ्गरेजी जैसी प्रभावशाली विदेशी भाषा के सामने आत्म-रक्षा के लिए, हिन्दी ही से इन्हें मदद मिल रही है। स्वामी

भवानीदयालजी संन्यासी ने इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया है। उन्हीं की प्रेरणा से आज दक्षिण और पूर्वी अफ्रिका तथा फिजी आदि में, हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ और शिक्षण-संस्थाएँ चल रही हैं।

अखिल भारत के जीवन में हिन्दी की यह व्यापक प्रतिष्ठा, केवल आजकल के प्रोपेगेंडा या प्रचार का फल नहीं है—यह स्मरणातीत काल से उपलब्ध भाषा-विषयक परम्परा की देन है! इस विषय पर मैंने अन्यत्र कुछ विचार प्रकट किये हैं। संक्षेप में मेरा कहना यह है कि हिन्दी पंजाब से संयुक्त मध्यदेश के पश्चिम खंड की भाषा है; उत्तर भारत के इस अंश में—प्राचीन काल के उदीच्य के भाग में तथा मध्यदेश में—प्राचीन भारतीय या ब्राह्मण्य अथवा हिन्दू धर्म और सभ्यता की नींव डाली गयी थी; इसी प्रान्त में ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के नेतृत्व से भारतीय मिश्रित आर्यानार्य या हिन्दू सभ्यता ने अपने विशिष्ट रूप को प्राप्त किया था, यह प्रान्त, उत्तर भारत के आर्यावर्त या आर्यभाषी देशों के बीच या हृदयस्वरूप था—यहाँ की बोली युग-युग से भारतीय सभ्यता का मुख्य वाहन या माध्यम मानी गई थी, और बीच की बोली होने के कारण, चारों तरफ प्रान्तों के लोगों में इसे समझ लेना, जनता के लिए बराबर सहज था। मध्यदेश की बोली पर उदीच्य का प्रभाव—अर्थात् पछाँह की बोली पर पंजाब का प्रभाव, युग-युग से दिखाई देता है। वैदिक साहित्यिक भाषा जो ऋग्वेद में मिलती है और जिसे "छान्दस" कहा जाता है, पंजाब में (विशेषज्ञों की राय से उत्तर-पश्चिम पंजाब में) आर्य लोगों में अपने रूप को प्राप्त किया था। इसके बाद, उसी प्रान्त की "लौकिक" या चालू आर्य बोली के आधार पर संस्कृत भाषा बनी, जो धीरे-धीरे, मौखिक या कथित आर्य बोलियों के साथ, ब्राह्मणों के गुरुकुल और उनके परिषदों के सहारे, पूर्व की तरफ गंगा की उपत्यका में फैली। मध्यदेश—कुरु-पाँचालों का देश—वेदोत्तर काल की ब्राह्मण्य सभ्यता का प्रधान प्रकाश-क्षेत्र बना। उदीच्य अर्थात् उत्तर पंजाब की बोली, "छान्दस" भाषा से ज्यादातर मिलती जुलती थी, और लौकिक संस्कृत की भी आधार-भूमि थी; इस कारण मध्यदेश के ब्राह्मणों

में उदीच्य की बोली सम्मानित थी। इसका ही अनुकरण मध्यदेश में तथा प्राच्य में होता था। उदीच्य की बोली ने मध्यदेश में आकर वहाँ के ब्राह्मणों के मुँह से जो रूप लिया, वही संस्कृत है। जैसा इटली में हम देखते हैं, साधु या "संस्कृत" इटालियन भाषा का स्वरूप है—'लिंगुवा टस्काना इन बोक्का रोमाना'—टस्कानि-प्रदेश की भाषा रोम-नगरी में लायी गयी, और वहाँ इसने रोमन लोगों के मुँह से अपना चेहरा बदल, साधु या साहित्यिक इटालियन भाषा का रूप ग्रहण किया। मध्यदेश में प्रतिष्ठित उदीच्य की आर्यभाषा संस्कृत, समग्र प्राचीन तथा मध्य युग के भारत की सभ्यता की मुख्य वाहन बनी। फिर संस्कृत के बाद शौरसैनी प्राकृत और पाली के नाम से मध्यदेश की जनभाषा भारतीय संस्कृति और चिन्तन का माध्यम बनी। शौरसैनी प्राकृत सबसे श्रेष्ठ और मार्जित प्राकृत गिनी जाती थी। पाली शौरसेनी के ही आधार पर स्थापित होकर, हीनयान मत के बौद्धों के थेरवाद सम्प्रदाय की धार्मिक भाषा बनी। उत्पत्ति के विचार से, पाली से मगध या मागधी प्राकृत का कोई भी सम्बन्ध नहीं था।

शौरसैनी प्राकृत के परिवर्तित रूप शौरसैनी अपभ्रंश ने ईस्वी ६०० के बाद, लगभग ईस्वी ८०० के आसपास, एक नई साहित्यिक भाषा का रूप ग्रहण किया, और वह आजकल के पश्चिम संयुक्त-प्रदेश, राजपूताना गुजरात और पंजाब के राजपूत राजाओं की सभाओं में भाट और चारण और अन्य कवियों के द्वारा काव्यसाहित्य में प्रयुक्त होने लगी। इस शौरसैनी अपभ्रंश का फैलाव इतना हुआ कि जिस वक्त बाहर से विदेशी तुर्क आने लगे, समग्र आर्यभाषी उत्तर भारत में (महाराष्ट्र, सिन्ध और पंजाब से लेकर पूर्व बंगाल और नेपाल तक) कवि लोग इसका व्यवहार करने लगे। पण्डितों के संस्कृत के साथ-साथ, यह जनता की प्रधान साहित्यिक प्रकाश-भूमि हो गयी। विदेशी तुर्क आए और दिल्ली पर अपना आधिपत्य जमा लिया। उत्तर भारत की बोलियाँ कदम बढ़ाकर आगे चलीं—शौरसैनी अपभ्रंश का ज़माना बीत गया, नई

नई साहित्यिक भाषाओं का उद्भव हुआ। अपभ्रंश और प्राकृत के विद्वान् इन दोनों भाषाओं में काव्य रचते थे—इस प्रकार, जनता में चालू बोलियों के आधार पर स्थापित नई साहित्यिक भाषाओं का ज़माना आ गया। शौरसैनी अपभ्रंश से एक पूरी तौर की साहित्यिक या किताबी भाषा निकली, जिसका नाम था 'पिंगल", जो राजपूताने और संयुक्त प्रदेश के भाट और चारणों की उपजीव्य भाषा हो गयी। शौरसैनी अपभ्रंश से आधुनिक आर्यभाषा ब्रजभाषा का विकास हुआ; उधर इससे घनिष्ट रूप से सम्बन्धित राजस्थानी की अपभ्रंश से उत्पन्न पश्चिमी राजस्थानी ने अपना साहित्यिक रूप ग्रहण किया। (इस पश्चिमी राजस्थानी से "डिंगल" या पुरानी मारवाड़ी और उसके बाद आधुनिक मारवाड़ी, तथा गुजराती, ये दोनों निकलीं।) पंजाब में शौरसैनी अपभ्रंश और उसके अर्वाचीन रूप ब्रजभाषा से मिली हुई मिश्रित पंजाबी बोली, साहित्य में ईस्वी १२वीं शती से प्रयुक्त होने लगी। और इधर दिल्ली के आसपास की बोली, जो एक ओर पंजाबी से और दूसरी ओर अपनी बहन ब्रजभाषा द्वारा प्रभावित थी, और स्वयं शौरसैनी अपभ्रंश ही का एक विकृत रूप थी, राजधानी की भाषा हो जाने के कारण उसे एक नई मर्यादा मिली, जो सदी-ब-सदी बढ़ती रही। दिल्ली की भाषा साहित्यिक रचना में धीरे-धीरे प्रवेश करने लगी—ईस्वी १५वीं शती में वह कबीर जैसे सन्त कवि के पदों में ब्रजभाषा से मिश्रित होने लगी; और अन्त में दक्षिण में लाई गई पंजाबी-मिश्रित पछाँह की बोली (जिसे "दखनी" नाम मिला था) की देखा-देखी, दिल्ली की इस शुद्ध खड़ी बोली ने साहित्यिक क्षेत्रों में अवतरण किया। इसका नतीजा यह निकला कि ईस्वी १८वीं शती में हिन्दुस्तानी (हिन्दुस्थानी), हिन्दी अर्थात् नागरी-हिन्दी, और उर्दू अर्थात् मुसलमानी हिन्दी का उदय हुआ। तुर्क, पठान, भारतीय मुसलमान तथा मुगलों के जमाने में, उत्तर भारत की हिन्दू-संस्कृति का प्रधान माध्यम होने के कारण, ब्रजमंडल की भाषा ब्रजभाषा और पूर्व की कोसली या अवधी, लगभग १७५० ईस्वी तक उत्तरभारत की शिष्ट और एक प्रकार की अन्तःप्रान्तिक भाषाएँ थीं।

फिर, राजधानी दिल्ली के मुगल घरानों की और बादशाही दरबारों की भाषा होने के कारण, १८वीं शती के मध्यभाग से, दिल्ली की खड़ीबोली भी मुगल साम्राज्य के हर सूबे में फैली—कहीं आम या साधारण जनता में व्यवहृत कथ्य भाषा हिन्दुस्तानी के रूप में, कहीं हिन्दुओं में प्रचलित और नागरी लिपि में लिखित खड़ीबोली हिन्दी के रूप में, और कहीं ज्यादातर मुसलमान समाज में मुसलमानी-हिन्दी या उर्दू के रूप में। लौकिक-संस्कृत, शौरसैनी प्राकृत और उसके एक प्राचीन साहित्यिक रूप पाली, शौरसैनी अपभ्रंश, ब्रजभाषा, खड़ीबोली हिन्दी या हिन्दुस्तानी—इसी परम्परा के मुताबिक हिन्दी चली आई है। हिन्दी के पीछे, कम से कम ढाई हजार वर्षों के अन्तःप्रान्तिक मेलजोल का इतिहास है। अन्तःप्रान्तिक हिन्दी हमारे हिन्दू-युग के पूर्वजों से ही प्राप्त एक महत्वपूर्ण रिक्थ है; और भारत की मुसलमान राजशक्ति ने भी इसका पूरा उपयोग किया है—इसे अपने मुसलमानी भाव द्वारा सीमित तथा संकुचित करते हुए भी, यथाशक्ति बढ़ाया ही है। उन्होंने भी इसे राष्ट्रभाषा बनाने में बहुत बड़ी मदद दी है।

मुसलमान और हिन्दी इन दोनों के संयोग का फल उर्दू है—हम लोगों में ऐसा जो विचार है, वह मामूली तौर पर ठीक नहीं। जब हमारे विद्वान् लोग कहते हैं कि हिन्दू और मुसलमान जनता की सम्मिलित चेष्टा का नतीजा उर्दू है, उर्दू के बनाने में हिन्दुओं और मुसलमानों ने एक ही उद्देश्य से काम किया है, कि हम ऐसी एक आमफ़हम भाषा तैयार करें जिसे हिन्दू और मुसलमान दोनों समझ सकें—यह बात उर्दू की उत्पत्ति के ऐतिहासिक विचार से तर्कयुक्त नहीं है। पंजाब से और पछाँह जाकर, दक्षिण में ईस्वी १४वीं शती से बसे हुए मुसलमानों ने, १५वीं शती में एक नई साहित्यिक भाषा की नींव डाली, जो पुष्ट होकर "दखनी" बनी। खड़ीबोली हिन्दी के साथ यह साहित्यिक दखनी अधिकतया मिलती जुलती है, अतः इसे हम एक प्रकार की "पुरानीहिन्दी" कह सकते हैं। यह भाषा उत्तर भारत से आये हुए मराठों में और तेलुगु, कन्नड़

इत्यादि द्राविड़ भाषियों में बसे हुए मुसलमानों द्वारा व्यवहार की जाती थी, जो कि इसे लिखने के लिए शुरू ही से (जहाँ तक दस्तावेज मिले हैं) फारसी या अरबी लिपि इस्तेमाल करते थे। इस कारण इसे मुसलमानों ने "उर्दू" नाम से भी पुकारा है। पर दखनी में प्रयुक्त शब्द, अधिकतया शुद्ध हिन्दी और संस्कृत के शब्द ही होते थे। जब किसी इस्लामी धार्मिक बात पर कुछ रचना दखनी में होती थी, तब विषय की विशेषता के कारण अरबी-फारसी अल्फाज़ ज्यादातर इस्तेमाल किये जाते थे—जैसे कि दखनी की सबसे प्राचीन पुस्तक "मिरा-जुल्-'आशिकीन" में हम देखते हैं, जिसे लगभग १४वीं ईस्वी शती के अन्त में, हजरत सैयद मुहम्मद हुसैनी बंदानिवाज गीसू-दराज ने लिखा था। मामूली दखनी ग्रन्थों में शब्दावली हिन्दी ही की सी होती थी, छन्द भी प्रायः हिन्दी के ही होते थे। दक्षिण में, उत्तर भारत के प्राचीन भारतीय अर्थात् हिन्दी-साहित्य शैली से, वियुक्त हो जाने के कारण और यह अरबी लिपि में लिखी जाती थी इस कारण भी ईस्वी १६वीं शती से दखनी में अरबी-फारसी शब्दों का कुछ अधिक प्रयोग होने लगा। फारसी-साहित्य से परिचित सूफी साधक और आलिम और बीजापुर, गोलकुण्डा आदि मुसलमान-राज्यों के दरबारी लोगों के हाथ, इसका वातावरण धीरे-धीरे फारसी साहित्य का सा ही हो गया; पर इसकी शब्दावली ईस्वी १८वीं शती तक मुख्यतया भारतीय ही थी। १७वीं शती के चतुर्थ चरण में दिल्ली से मुगल लश्कर द्वारा लाई हुई खड़ीबोली, जो कि दक्षिण ही में "जबान्-ए-उर्दू-ए-मु'अल्ला" और "हिन्दुस्तानी" कहलाने लगी—इस पर दखनी का असर पड़ने लगा; और कवि वली औरङ्गाबादी ईस्वी १७२० के बाद दिल्ली में आकर जब बसे, तब से दिल्ली की खड़ीबोली उर्दू-साहित्य का आधार बनी। वली की भाषा देखिये—उसमें शुद्ध ठेठ हिन्दी के शब्दों की कुछ कमी नहीं है, उसका वातावरण भी ज्यादातर हिन्दी ही का है। दिल्ली के शरीफ मुसलमानों के सामने, वली की कविता एक नई दिलचस्प चीज बनी, जिसे उन्होंने फौरन अपनाया। यह तो उनकी घरेलू बोली ही थी, जो अब से

उनकी मजहबी लिपि से लिखने के काबिल दिखाई देती थी,-और लिपि के कारण, आलिमों के प्रिय अरबी-फारसी शब्दों से जो भरी जाने के लायक थी। इसके पहले उनमें ब्रजभाषा का ही पठन-पाठन हुआ करता थ पर अब से ब्रजभाषा उनके लिए रोचक नहीं रही। मुसलमान राजशक्ति का ह्रास होने लगा—मराठे, सिक्ख और उसके बाद अंग्रेज प्रकट हुए, मुगलों का मुसलमानी गौरव अतीत का सपना हो गया। इस अस्वस्तिकर अवस्था में, दिल्ली के खानदानी मुसलमानों के "लिए मेटल ऐण्ड स्पिरिचुयल कम्पनसेशन" अर्थात् अधिमानसिक क्षति-पूर्ति की सख्त जरूरत थी। उर्दू ने उसे पूरा किया। फारसी पढ़े लिखे शरीफ और खानदानी मुसलमान बड़े ही हर्ष के साथ, फारसी काव्य के ढंग पर फारसी और अरबी शब्दों को चुन-चुनकर, हिन्दी भाषा में भी एक नया बिल्लौर का प्रासाद बनाने लगे, जो उर्दू काव्य-साहित्य के रूप में प्रकट हुआ। इस काम में विदेश से आये हुए कुछ मुसलमान दरबारियों ने बड़े जोश के साथ योग दिया—उत्तर भारत की प्राचीन हिन्दी-साहित्य-शैली से न था उनका परिचय, न हो सका उनका सद्भाव। परन्तु भारत के अनेक खानदानी मुसलमानों ने, शुद्ध हिन्दी के लिए सिफारिश की, शुद्ध हिन्दी में साहित्य-सर्जना से ये निरस्त नहीं हुए। एक उदाहरण लीजिए। ईस्वी १८वीं शती में "गरीब" उपनाम के किसी मुसलमान कवि ने "तारीख गरीबी" के नाम से, नबियों की बात लिखी है। "काम तो उसने 'दीन' का ही किया, पर हिन्दी में किया। परिणाम यह हुआ कि, 'मज़हबी' लोगों का विरोध हुआ। उसने अपने पक्ष की पुष्टि में, प्रमाण पर प्रमाण दिये, और नज़ीर पर नज़ीर प्रस्तुत कीं।" कवि ने घोषित किया कि प्रचार के लिए हिन्दी ही में मुसलमानी धर्म की बातें मुसलमान कवियों ने की हैं।

गरीब कहते हैं—

"हिन्दी पर ना मारो ताना; सभी बतावैं हिन्दी माना।
यह जो है कुरआन खुदा का; हिन्दी करैं बयान सदा का।
लोगों को जब खोल बतावैं; हिन्दी में कह कर समझावैं।

जिन लोगों में नबी जो आया ; उनकी बोली सों बतलाया ।
हिन्दी 'मेहदी' ने फ़रमाई ; 'खँदमीर' के मुँह पर आई ।
कई दोहरे सांखी बात ; बोले खोल मुबारक ज़ात ।
मियाँ 'मुस्तफा' ने भी कही ; और किसी की फिर क्या रही ।"

[कवि नूर मोहम्मद प्रणीत 'अनुराग-बाँसुरी', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा श्री चन्द्रबली पांडेय का संस्करण, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, पृष्ठ ३—४]।

पर फारसी-साहित्य और इसलामी मसर्रत में मस्त दिल्ली के और दूसरे स्थानों के मुसलमान कवि और अन्य लेखक नई भावना में डूब गये। वे हिन्दी से शुद्ध हिन्दी तथा संस्कृत शब्दों का बहिष्कार करके, उन शब्दों के स्थान पर विदेशी अरबी और फारसी शब्द लाकर, एक नई मुसलमानी ज़बान या नई मुलमानी शैली, उनमें से एक के कथन के अनुसार, "हिन्द की नापाक ज़मीन पर" कायम करने में पूरे जोश के साथ लग गये। यह सब इतिहास आवश्यक दस्तावेज़ और प्रमाण आदि के साथ, श्री चन्द्रबली पांडेय ने अपनी हिन्दी-उर्दू-विषयक गवेषणात्मक पुस्तकों में लिपिबद्ध किया है। हिन्दी-उर्दू के सवाल पर विचार करनेवाला कोई भी इनके मूल्यवान् ग्रन्थों के पढ़े बिना कुछ बहु-प्रचारित भ्रान्त धारणाओं से मुक्त नहीं हो सकता।

अरबी और फारसी शब्दों से भरपूर उर्दू की शैली, शुद्ध हिन्दी शैली से प्राचीनतर है, और उर्दू शैली हिन्दुओं की भी सानन्द सहयोगिता से बनी, यह ग़लत खयाल है। उर्दू अपनी उत्पत्ति के समय, ईस्वी १८वीं शती में सचमुच एक 'आर्टिफीशियल कोटेरी स्पीच' यानी एक विशिष्ट सम्प्रदाय की कृत्रिम या बनावटी भाषा ही थी। उसके बाद जब यह भारत में इसलामी सल्तनत के अस्तमित गौरव की स्मारक भाषा बनी, तब मुसलमान लोग सोचने लगे कि इसलाम की आत्मा इस बोली से ही अच्छी तरह से संरक्षित हो सकती है—क्योंकि पवित्र भाषा अरबी और सांस्कृतिक भाषा फारसी से इसकी लिपि बेशुमार अरबी और फारसी शब्द

ला सकती थी—तब हिन्दीवाले मुसलमानों में इसका प्रभाव बढ़ने लगा। मुसलमान शाही दफ्तरों में नौकरी करनेवाले कुछ कायस्थ और दूसरे हिन्दू, जो कि उस ज़माने की राजभाषा फारसी के अच्छे विद्वान् बने थे, उनमें भी इस नई भाषा उर्दू के प्रति एक स्वाभाविक आकर्षण हुआ, क्योंकि फारसी से परिचय रहने के कारण और साथ ही साथ संस्कृत से परिचय के अभाव से इनके लिए अदबी लुत्फ़ उर्दू ही से प्राप्त करना सहज था। उर्दू की प्रतिष्ठा में हिन्दुओं का सहयोग इतना ही हुआ था।

हिन्दी और उर्दू इन दोनों शैलियों का इतिहास जो कुछ भी हो, अब यह मानना पड़ेगा कि इस वक्त उर्दू शैली की अलग प्रतिष्ठा हो गयी है। पर साथ-साथ यह भी मानना चाहिये कि यह प्रतिष्ठा अब कुछ वर्षों से घटती जाती है। महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज की चेष्टा से देवनागरी हिन्दी ने पंजाब में अपने लिये फिर नये तौर से एक स्थान बना लिया है। "आर्य-समाज ज़िन्दाबाद"—आर्य संगठन की जय हो—पंजाब में कन्याओं की शिक्षा शुद्ध हिन्दी में होने के कारण, उस प्रान्त के उर्दू-पढ़े सैकड़ों नवयुवकों को भी, इन कन्याओं से विवाह के बाद, देवनागरी लिपि अपनानी पड़ी है; और हजारों बच्चे अपनी माताओं के पास जिस पहली शिक्षा को प्राप्त करते हैं, उन्हें अलिफ़--बे के स्थान पर क–ख–ग सीखने का अवसर मिलता है। पूर्व में बिहार के शिक्षा-विभाग के इन्सपेक्टर, बंगाल के शिक्षानेता और सुलेखक स्वर्गीय भूदेव मुखर्जी ने उस प्रान्त की अदालतों में नागरी लिपि को पुनःस्थापित करने की सफल चेष्टा की थी। नागरी-प्रचारिणी-सभा ने भी, देवनागरी लिपि तथा हिन्दी शैली के प्रचार और प्राचीन तथा आधुनिक हिन्दी-साहित्य के उद्धार के लिए अनमोल सेवा की है। संयुक्त प्रान्त के लाट मैकडोनल साहब ने नागरी लिपि और हिन्दी भाषा को अपना न्याय्य स्थान देकर लोगों का साधुवाद प्राप्त किया। हिन्दी पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ धीरे–धीरे उर्दू से कई गुना बढ़ती जाती हैं। आहिस्ते-आहिस्ते हिन्दी का स्थान इस कदर होते हुए भी, इसके मुकाबिले उर्दू को अङ्गरेज सरकार की पक्षपातपूर्ण पृष्ठपोषकता

से अपने हक से अधिक मर्यादा मिली है। भारतीय फौज में तो उर्दू ही का राज है, और ऐसी कुछ राष्ट्रीय कार्रवाइयों में अरबी अलफ़ाज से लदी हुई उर्दू पर अङ्गरेज सरकार की मोहब्बत हिन्दी से अधिक है। अखिल भारत के लोग ८० प्रति-शत शुद्ध हिन्दी के संस्कृत शब्द समझ लेंगे, खालिस उर्दू के फारसी और अरबी अलफाज नहीं। तो भी, आल-इण्डिया-रेडियो के काम-काज में "हिन्दुस्तानी" के नाम से अरबी फारसी शब्दों से भरपूर उर्दू ही का अब तक बोलबाला है।

भारतीय राजनीति के क्षेत्र में मुसलमानों का अन्याय और राष्ट्र-विरोधी दावों को मानते-मानते, हम ऐसी अवस्था में आ पहुँचे हैं, कि अपनी निजी भाषा का भी उर्दू के नाम पर बलिदान करने को हम तैयार हो गये हैं। समस्या कठिन है—पर इसे हल करना तो होगा ही। हम उर्दू के अरबी-फारसी लफ्जों से नहीं डरते। भाषा में आगत—यहाँ तक कि सिर्फ उर्दू में आगत—हजारों अरबी-फारसी शब्द हम हिन्दी में अक्सर व्यवहार करते हैं; ये सब शब्द हिन्दी द्वारा हजम किए जा चुके हैं। इन्हें हिन्दी से बहिष्कार करने की बात भी कभी नहीं सुनाई देती। पर उर्दू में शुद्ध हिन्दी और संस्कृत शब्दों के लिए ऐसी उदारता कहाँ है? हिन्दी में शुद्ध हिन्दी तथा संस्कृत प्रतिशब्द के रहते हुए भी, जहाँ हम सैकड़ों हजारों अरबी-फारसी शब्द प्रयोग करते हैं, उर्दू वहाँ एक भी शब्द पर आत्मीय भाव प्रकट नहीं करती। सिनेमा की खिचड़ी हिन्दी या हिन्दुस्तानी को भी हम बर्दाश्त कर लेते हैं—जो कभी-कभी इतनी पीड़ादायक होती है कि उसके बारे में क्या कहें। यह हम जानते हैं कि शुद्ध हिन्दी तथा संस्कृत शब्दों के साथ मौके पर उन शब्दों के अरबी और फारसी प्रतिशब्द व्यवहार करने के रिवाज ने हमारी हिन्दी को इतनी शक्तिशाली और सूक्ष्म-भाव-द्योतक भाषा बना दी है। बहुत दूर तक, हिन्दी इस विषय में उर्दू का साथ दे सकती है। पर सांस्कृतिक मामले में, उच्चकोटि के शब्दों के बारे में शुद्ध हिन्दी तथा संस्कृत के अस्तित्व को एकदम अस्वीकार कर देना, और हर

बात में भिखारी बनकर फारसी और अरबी के दरवाजे पर खड़ा रहना, इतनी दूर तक चलना, सांस्कृतिक आत्महत्या के बराबर है।

आज-कल की भारतीय भाषाएँ, अधिकतया आत्मनिष्ठ या आत्मनिर्भरशील नहीं होती, ये ज्यादातर परिपुष्ट बनी हैं; आवश्यकता के अनुसार, ये अपने धातु और प्रत्ययों के सहारे नये-नये शब्द नहीं बना पातीं। ये अधिकतर दूसरी किसी भाषा से शब्द उधार लेती हैं। हिन्दी भी ज्यादातर ऐसी उधारशील भाषा बनी है—शब्द बनानेवाली भाषा नहीं। इसकी उत्पति से यह अपनी दादी संस्कृत की वारिस या उत्तराधिकारिणी बनकर संस्कृत शब्द लेती आती है। जब फारसी भाषा भारत में प्रतिष्ठित हुई, तब से हजारों फारसी और अरबी शब्दों को भी इसने आत्मसात् किया। अंगरेजी तथा यूरोपियन भाषाओं के लिए इसके द्वार खुले हैं। पर कम से कम तीन हजार वर्षों का जो संयोग भारतीय सभ्यता का संकृत से है, उसे हम कैसे त्याग दें ? तीन हजार वर्षों के प्राणवन्त संयोग को हम ऐसी भाषा-शैली के चरणों पर निछावर नहीं कर सकते, जैसी कि—

फलक पर्दा बना अहले जमीं की पर्दापोशी की।
मगर इस दुश्मनेजाँ-ने किसी का ऐब कब ढाँका

अथवा—

बूये गुल नालये दिल बूदे चिरागे महफिल।
जो तेरी बज्म से निकला सो परेशाँ निकला॥

अथवा—

ऐ सपहरे बरीं के सैय्यारो ! ऐ फ़िज़ाए ज़मीं के गुलज़ारो !

अथवा—

कभी, ऐ मुन्तज़रे-हक़ीक़त् ! नज़र आ लिबासे-मिजाज़ में।

अथवा—

जुरआत्- आमेज़ मेरी ताबे-सुखन है मुझको।
शिकवाह अल्लाह से, ख़ाकस्-ब दिहन है मुझको॥

संस्कृत की पूरी तौर से इन्कार करनेवाली ऐसी शैली को भारत के बहुसंख्यक हिन्दू कभी नहीं मान सकते।

इस विषय पर बात साफ और खुलासा होनी चाहिये। मेरे विचार में यदि हिन्दी और उर्दू शैलियों को एक करके एक नई राष्ट्रभाषा बनाना हो, तो यह राष्ट्रभाषा खास करके, इस्लामी तमद्दुन की ज़बान नहीं होगी। यह सोचकर इन तीन नीतियों को न्याय की दृष्टि से मान लेना चाहिये—

[१] जहाँ तक हो सके, शुद्ध हिन्दी धातु, प्रत्यय और शब्दों से आवश्यक नए शब्द बनाए जाएँ।

[२] खास करके इसलामी मजहबी और तमद्दुनी मामलों के शब्द मुसलमानों की रुचि के अनुसार अरबी या फारसी से लिए जाएँ; और—

[३] इसके अलावा, आवश्यक होने से संस्कृत को छोड़कर बाहर की किसी भाषा के शब्द जितने ही कम हो सकें उधार लिए जाएँ।

एक मूल भाषा थी "हिन्दी" या "हिन्दवी" या "भाषा" नाम की, जिसके कई रूप-भेद थे, जिनमें एक मुख्य साहित्यिक रूप का नाम था "ब्रजभाषा" या "ग्वालियरी। ईस्वी १४वीं शती से इससे दिल्ली-मेरठ की बोली का मिश्रण होने लगा, जैसा कि सन्त कबीर के ग्रन्थों में हम देखते हैं। इस मिश्रित बोली के साथ फिर कुछ पंजाबी का भी मिश्रण हुआ। सिक्ख सम्प्रदाय के माननीय गुरुओं के द्वारा रचित भाषा यही है, जो कि श्री गुरु-ग्रन्थ में ज्यादातर मिलती है। पंजाबी से मिश्रत यह हिन्दी बोली दक्षिण में उत्तर हिन्दुस्तान के पछाँह और पंजाब से आये हुए मुसलमानों में प्रतिष्ठित हुई, और वहाँ उनके हाथ इससे साहित्यिक दखनी बनी, जिसका जिक्र हमने ऊपर किया है। केवल ईस्वी १८वीं शती में, इस हिन्दी बोली के समूचे संस्कृत और अधिक से अधिक हिन्दी शब्दों को निकाल कर, उनके स्थान पर अरबी और फारसी शब्द लाकर और उसे अरबी लिपि में लिखकर, एक नई साम्प्रदायिक भाषा बनी, जिसका ठीक परिचय

"मुसलमानी-हिन्दी" इस नाम ही से हो सकता है, और जो ईस्वी १९वीं शती के द्वितीयार्द्ध से "उर्दू" कहलायी। मुगलराज्य, और उसके स्थान पर अपने को कायम किये हुए अङ्गरेज सरकार के जरिए यह उर्दू अदालतों में और सरकारी कामों में प्रतिष्ठित हो गयी और दखनी से प्राप्त हुई साहित्यिक दृष्टि से उत्पन्न इसका नवीन साहित्य भी बनने लगा। अदालतों के जरिए उर्दू की चाल अस्वाभाविक रूप से बढ़ गयी। यह अस्वाभाविकता ईस्वी १९वीं शती के चतुर्थ चरण से घटने लगी; संख्या-बहुल हिन्दू जन-साधारण अपनी संस्कृति का ज्ञान बढ़ाने लगे, और इससे संस्कृति को अपना न्याय्य स्थान कुछ मिल गया। १५० वर्षों की चेष्टा से—विशेष करके विगत पचास वर्षों के प्रयत्न से राष्ट्रीय भाव से भरपूर हिन्दी की जो अभिव्यञ्जनामयी शैली बन चुकी है, वह हिन्दी संसार की एक अनमोल सम्पत्ति है। राष्ट्रीय एके के नाम से मुसलमानों के कुछ कट्टर लीडरों को खुश रखने के कारण अब वह नष्ट हो जानेवाली है। रेडियो, सरकारी विज्ञापन, बहुत सी फिल्में कांग्रेस के कुछ सदस्यों के भाषण, कहीं-कहीं स्कूल-पाठ्य पुस्तकें, तथा "हरिजन-सेवक" जैसी पत्रिका की खिचड़ी भाषा की कृत्रिम अनुवाद-शैली—इन सभों में, इस मर्यादापूर्ण, भाव-गम्भीर, शक्तिशाली शुद्ध हिन्दी का भाषा-शैली पर आक्रमण हो रहा है। हिन्दुस्तानी के नाम से हिन्दी का सत्यानाश करो—परन्तु उर्दू ज्यों की त्यों बनी रहे और फलती फूलती रहे। कोई भी मुसलमान, खालिस उर्दू को छोड़, इस हिन्दी-मिश्रित उर्दू में कुछ लिखता नहीं; और कांग्रेस के प्रति श्रद्धा के कारण, हिन्दू लेखक जो कुछ लिखता है, वह केवल अनुवाद के रूप में, एक कृत्रिम शैली की भाषा में कुछ लिखने का tour de force अर्थात् 'कर्तब' ही मात्र होता है। कांग्रेस के साथ सहानुभूति के कारण सब कोई इस हिन्दुस्तानी शैली को मान लेते हैं, "हिन्दुस्तानी", "हिन्दुस्तानी" की रट लगाते हैं; पर जिसे हम "कांग्रेसी-हिन्दी" कह सकते हैं, उसके बाहर कहीं भी इसका प्रयोग नहीं दीखता। काशी विश्वविद्यालय ने शुद्ध हिन्दी ही को मान लिया है, पर लखनऊ में "हिन्दुस्तानी" के नाम से, अलग-

अलग हिन्दी और उर्दू दोनों शैलियाँ और तीन लिपियाँ (देवनागरी, अरबी और रोमन) स्वीकृत हो गयी हैं।

हिन्दी के अखिल-भारत-व्यापी प्रसार का कारण क्या है, इसे भूलने से नहीं चलेगा। गुजरात, महाराष्ट्र, नेपाल, आसाम, बंगाल, उड़ीसा, आन्ध्रदेश, कर्णाटक, तमिलनाडु और केरल, तथा पंजाब, काश्मीर और सिन्ध के हिन्दू लोग—इनकी प्रीति हिन्दी से सिर्फ हिन्दी की दो विशिष्टताओं के लिए ही है—एक, हिन्दी की देवनागरी लिपि ; और दो, इसके उच्चकोटि के संस्कृत शब्द। यह भी याद रखना चाहिये, कि तीस करोड़ हिन्दुओं की धार्मिक तथा सांस्कृतिक-भाषा संस्कृत की सर्व-जन-मान्य अखिल-भारतीय-लिपि देवनागरी ही बनी है। इन दोनों से हिन्दी को फारिग कर, यदि हिन्दुस्तानी को इसके स्थान पर बिठा दिया जाय, तो इसकी लोकप्रियता एकदम मिट जायगी। अहिन्दी-प्रान्तों में हिन्दी-प्रचार किस अवस्था में जा रहा है, उस पर नेत्रपात कीजिये। लिपि का प्रश्न पहले ही आता है —लोग देवनागरी-लिपि मान लेते हैं, उर्दू-लिपि से घबरा जाते हैं। सुबोध्य संस्कृत शब्दों के स्थान पर अबोध्य या दुर्बोध्य अरबी-फारसी के शब्दों से लोग और भी घबराते हैं।

भारत के मुसलमान आखिर उस अवस्था में आ जाएँगे, जिसमें तुर्की और ईरानी मुसलमान पहुँच गये हैं। राष्ट्रीयता के साथ ही साथ तुर्क और ईरानियों में (और सुनते हैं, अफगानों में भी) स्वाजात्य-बोध और अपनी भाषा और संस्कृत पर आत्मीयता-बोध इतना बढ़ गया है, कि तुर्क लोग अपनी भाषासे अरबी और फारसी शब्दोंको, और ईरानी लोग फारसी भाषा से अरबी शब्दों को, यथासम्भव बहिष्कार करने के काम में दत्तचित्त हुए हैं। तेहरान का विश्वविद्यालय आजकल "दारूल-'उलूम" नहीं है, वह अब "दानिश-गाह" बन गया है। "बिस्मिल्लाहि-र्-रहमानि-र्-रहीम" की जगह "ब-नाम-ए-खुदावन्द-ए-बख्शीन्दः-ओ-मिहिरवान्" लिखते हैं। तुर्की में इस वक्त "अल्लाह" के स्थान पर तुर्की भाषा के पुराने ईश्वर-वाचक शब्द, यथा "तॅगरी, इदि, मुनकु" पुनरुज्जीवित किये गये हैं;

और नये कानून के मुताबिक अरबी भाषा विदेशी होने के कारण उसमें आजान देना भी दण्डनीय अपराध गिना जाता है—किसी मसजिद से अगर आजान देना हो, तो तुर्की-भाषा में ही देना पड़ता है, "अल्लाहो अकबर" के स्थान, लाईसेंस पाये हुए मुल्ला लोग तुर्की में पुकारते हैं—"तेंग्रि उलुध् दिर्" अर्थात् "ईश्वर श्रेष्ठ है"। भविष्य में शिक्षा की वृद्धि के साथ भारतीय मुसलमान का दृष्टिकोण भी बदल जायगा, संस्कृत शब्द तथा उनके अपने ही हिन्दू, जैन और बौद्ध पूर्वजों से प्राप्त, भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में, उनका मानसिक वातावरण भी दूसरा हो जायगा। पुराने जमाने में भाषा के विषय में भारतीय मुसलमान इतने असहिष्णु नहीं थे। अरबी "अल्लाह" और फारसी "खुदा" के साथ-साथ, उत्तर भारत के मुसलमान, "कर्तार, साईं, गुसाईं" आदि शुद्ध हिन्दी शब्द व्यवहार करते थे, देहात में कहीं-कहीं अब तक करते हैं। बुत-शिकन सुलतान ग़ाज़ी महमूद गजनवी ने, अपनी भारतीय प्रजा के लिए चाँदी का सिक्का चलाया था, जिसमें भारतीय लिपि और संस्कृत भाषा में, मुसलमानों के धर्म-बीज कलमा-मन्त्र का अनुवाद था—"अव्यक्तम् एकम् मुहम्मद अवतारः", और बादशाह का नाम तारीख आदि भी यों दिये थे—"नृपतिः श्री महमूदः। अयं टंकः महमूदपुरे घट्टे आहतः"; तारीख में "हिजरी" शब्द का भी संस्कृत अनुवाद किया गया—"जिनायन वर्ष" अर्थात् नबी या जिनके अयन—अर्थात् पलायन—का वर्ष! खुद बादशाह औरङ्गजेब आलमगीर ने दो प्रकार के आम के नाम रखने के लिए अपने पुत्र द्वारा अनुरुद्ध होकर ये नाम दिये थे—"रसना-विलास" और "सुधारस"। संस्कृत के सम्बन्ध में, भारतीय मुसलमान का पूर्व इतिहास ऐसा है; भविष्य में जरूर ये तुर्कों और इरानियों के दृष्टान्त का अनुसरण करेंगे ही: तो बीच में, क्यों हम भारतीय राष्ट्रभाषा हिन्दी के संस्कृत शब्दों का विरोध कर, उन्हें भाषा से निकालने का या उन्हें सीमित करने का अनुचित प्रयास करें?

सीधी बात तो यही है कि भारत की राष्ट्रभाषा को "हिन्दी" कहिये,

"हिन्दुस्तानी" कहिये, "हिन्दुस्थानी" कहिये, "आर्यभाषा" कहिये, मौके पर "उर्दू" भी कहिये, चाहे जो कुछ कहिये, पर संस्कृत से इसके सम्पर्क को दूर करने की किसी प्रकार की चेष्टा न कीजिये।

सब लोग जानते हैं, कि हिन्दी-उर्दू का सवाल मुख्यतया लिपि ही का सवाल है। हिन्दी की देवनागरी और उर्दू की अरबी लिपि, इन दोनों की तुलना करना फिजूल है। विचार और युक्ति की राह से देवनागरी के मुकाबिले उर्दू-लिपि के पक्ष का समर्थन हो ही नहीं सकता। Pan-Islamism या विश्व के मुसलमानों के धार्मिक ऐक्य के ख्वाब देखनेवालों की भावना के सिवाय, इसके पक्ष में कोई भी युक्ति नहीं है; और ईस्वी १९४७ में Pan-Islamism की आवाज, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जलसों में बेसुरी लगेगी। राष्ट्रीयता, इतिहास, विज्ञान, देशव्यापी प्रसार, जिस किसी दृष्टिकोण से विचार किया जाय, देवनागरी या भारतीय लिपि सभी भारतीय भाषाओं के लिए उपयोगी है, उर्दू या अरबी-लिपि कदापि किसी रूप में नहीं। परन्तु भारत के मुसलमान यदि इस लिपि पर अपने प्रेम को नहीं त्याग सकें, तो अपने खास कामों के लिए उनमें इसका व्यवहार खैरियत से चालू रहे; हम भी उर्दू या अरबी-लिपि की खुशनवीसी से अपने सौन्दर्य-बोध को तृप्त करेंगे। पर भारत के बहुसंख्यक मनुष्यों पर, जिनका अरबी लिपि से कोई भी सरोकार नहीं, इस लिपि को लादने की अपचेष्टा न की जाय।

राष्ट्रभाषा हिन्दी, जो कि हिन्दू, मुसलमान, क्रिस्तान आदि सबों के लिए होगी, उसमें इस लिपि-समस्या को मिटाने के कई उपाय हो सकते हैं—

[१] दोनों लिपियों को चालू रखना, (क) देश, काल और पात्र के अनुसार, इनमें एक को ऐच्छिक और दूसरी को अनिवार्य रखकर; या (ख) दोनों ही को सर्वत्र, और सर्वकाल अनिवार्य रखकर;

[२] राष्ट्रीय काम में सिर्फ एक ही को रखना, दूसरी को छोड़ देना; और—

[३] इन दोनों की जगह एक तीसरी नई लिपि (जैसे रोमन) को लाना।

[१] (क) उपाय कांग्रेस ने करीब-करीब इन शब्दों से अब तक मान लिया था:—

The National language of India is Hindustani, which can be written in either the Nagari or the Urdu script; इससे किसी सूरत से काम चलता था, पर इससे भी कुछ मुसलमान खुश न थे। [१] (ख) उपाय महात्मा गांधी के निर्देशानुसार एक विवादास्पद प्रश्न बनकर अब हमारे समक्ष आया है। गांधीजी की राय इस प्रकार है (कुछ मुसलमान नेता भी ऐसा चाहते थे) कि राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी, नागरी और उर्दू दोनों लिपियों में लिखी जाय—हर वक्त इसे इस प्रकार दुहराना होगा, और यथासम्भव इन दोनों लिपियों की हिन्दुस्तानी के शब्द एक ही रहेंगे। यह कहाँ तक हो सकेगा, यह विचारणीय है। हमें तो यह पंथ कार्यकर नहीं लगता। भाषा यदि होनी हो, तो उसकी लिपि भी एक होनी चाहिये। नागरी और उर्दू लिपियाँ इतनी परस्पर विरोधी हैं, कि इन दोनों को साथ-ही-साथ, एक भाषा के लिए सर्वजन-गृहीत करना निहायत कठिन काम होगा—विभिन्न पथगामी दो घोड़ों पर एक साथ सवार होने के सदृश यह दुःसाध्य या असाध्य व्यापार होगा। जहाँ देवनागरी चालू नहीं है, ऐसे अहिन्दी प्रान्तों में यह लिपिद्वैध हिन्दी या हिन्दुस्तानी सीखने से लोगों को डरा-भगा रहा है।

[२] उपाय—जब तक हमारे उर्दूवाले मुसलमान भाइयों के साथ मिल-जुलकर काम करना है, और साथ-ही-साथ हिन्दी या हिन्दू संस्कृति की रक्षा करनी है, तब तक यह नहीं होने का। हिन्दू देवनागरी के स्थान पर उर्दू-लिपि नहीं स्वीकार करेंगे; मुसलमान उर्दू-लिपि को छोड़ना भी नहीं चाहेंगे। यद्यपि राष्ट्रीयता की दृष्टि से बहुमत की दृष्टि से, इतिहास की दृष्टि से तथा वैज्ञानिक दृष्टि से देवनागरी-लिपि का दावा ही मान्य है, तो

भी अधिकतया मुसलमान लोग इसे मान लेंगे, इसकी सम्भावना नहीं दिखाई देती।

[३] तृतीय उपाय जो प्रस्तावित हुआ है, वह यह है कि, हिन्दी या उर्दू का विरोध दूर करने के लिए, सिर्फ राष्ट्रीय काम-काजों के लिए, जहाँ दोनों सम्प्रदायों की बात है, अन्तर्जातिक रोमन लिपि को हम अपनाएँ। मैं तो स्वयं इसी मत के पक्ष में हूँ। ब्राह्मी-लिपि से उत्पन्न नागरी आदि भारतीय-लिपियों के वर्णों का क्रम; जो कि संस्कृत के व्याकरणकारों के अद्भुत ध्वनिज्ञान का परिचायक है; उस क्रम को हम कभी नहीं छोड़ सकते। उस क्रम के अनुसार सजाई हुई रोमन-लिपि से, हम सर्व-सम्प्रदाय-ग्राह्य एक Indo-Roman या "भारत-रोमक" वर्णमाला बना सकते हैं, जो हमारे राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक-जीवनमें विशेष उपयोगी हो सकती है। मेरी राय में रोमन लिपि के उपयोग से हमारी सांस्कृतिक हानि कुछ भी नहीं होगी; जैसे घड़ी, गर्मीनाप, खुर्दबीन, दूरबीन आदि युरोपीय यन्त्रों से, जैसे युरोपीय ढंग के कोट आदि पोशाक से हमारी भारतीयता के ऊपर कोई दाग नहीं लगता। इस विषय पर मैंने अन्यत्र अपने वक्तव्यों को विशद रूप से प्रकाशित किया है। इस समय रोमन के विपक्ष में चाहे जितना ही विरोध हो, जो विरोध अधिकतया अज्ञान-प्रसूत या विचार-हीन है; मेरा स्थिर विश्वास है, कि आखिरकार स्वेच्छा से हम भारतीय सभी भाषाओं के लिए रोमन-लिपि को अपना लेंगे। नेताजी सुभाषचन्द्र ने भी कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन में, भारत की राष्ट्रभाषा के लिए रोमन-लिपि के सम्बन्ध में कहा था कि युक्ति और विचार के साथ यह सोचने की बात है। इस अवसर पर इस सम्बन्ध में अधिक कुछ कहना अनावश्यक होगा। जब तक रोमन लिपि के लिए भारतीय शिक्षित जनों का दृष्टिकोण बदल नहीं जाय; तब तक सब भारतीय भाषाओं की एक-मात्र लिपि देवनागरी ही हो सकती है, यह मेरा निष्कर्ष है।

देवनागरी बनाम उर्दू या अरबी—इन दोनों लिपियों के बारे में मेरा विचार यह है। जब तक भारत के उर्दूवाले मुसलमानों में राष्ट्रीयता-बोध

न आये और जब तक अपनी ही इच्छा से भारतीय लिपि देवनागरी को ये अपनाना न चाहें, तब तक राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए, जहाँ इनकी माँग हो, वहाँ उपरन्तु उर्दू-लिपि में ही लिखी जाय—जैसे अब तक काँग्रेस के निर्देश के अनुसार हो रहा है। और इनको यह सुभीता भी दिया जाय, कि उर्दूलिपि में लिखी हुई राष्ट्रभाषा, साहित्यिक उर्दू से मिलती-जुलती रहे। पर संस्कृत शब्दों का बहिष्कार करके बनी हुई नये ढंग की हिन्दुस्तानी से, जो कि आसानी से उर्दू-लिपि में लिखी जा सकती है, हमारी हिन्दी की रक्षा हो। राष्ट्रीय या अन्तःप्रान्तिक सभाओं में, उर्दूवाले मुसलमान सदस्य अपनी खास अरबी-फ़ारसी-भरी उर्दू-शैली की हिन्दी या हिन्दुस्तानी में व्याख्यान दें या बहस करें, जैसा ये अब करते हैं; पर श्रोताओं को समझाने के लिए आवश्यकता के अनुसार शब्दों के अर्थ की व्याख्या भी करें; शुद्ध हिन्दी के बोलनेवाले भी ऐसा ही करें। इससे फिजूल दोहराने में कुछ कालक्षेप होगा, पर जैसी अवस्था वैसी ही व्यवस्था भी करनी होगी। राष्ट्रभाषा से संस्कृत को बिदा कर देना, भारतीय राष्ट्रीयता तथा संस्कृति का परिपंथी या घातक होगा, और भारत की दूसरी भाषाओं के लिए भी यह हानिकर होगा।

देवनागरी के सहारे हम प्रांतीय भाषाओं के सम्बन्ध को घनिष्ट बना सकते हैं। जो-जो भारतीय आर्य-भाषाएँ अभारतीय-लिपि में लिखी जाती हैं, हिन्दी के इतिहास की पूरी चर्चा के लिए उनके साहित्य के मुख्य ग्रन्थों को देवनागरी में छपाने का प्रबन्ध होना चाहिये। जैसे दखनी का पुराना साहित्य; सिंधी-भाषा के प्रधान पुराने ग्रन्थ, और कुछ नये ग्रन्थ भी; पंजाबी, काश्मीरी आदि के ग्रन्थ। सिंधी-भाषी भाग्यवानों की कुछ कमी नहीं है; उनकी दृष्टि इधर आकर्षित होने से, अखिल भारत के हिन्दी-पाठकों के सामने, सिन्धी साहित्य का दरवाजा खोल दिया जायगा। तुलनात्मक भाषातत्त्व तथा साहित्य के इतिहास की आलोचना के लिए, यह बड़ा ही उपयोगी होगा। खुशी की बात है कि, श्रीगुरु-ग्रंथ का एक अच्छा नया देवनागरी संस्करण निकल गया है। ग्रंथ-साहब के कुछ फुटकर अंश भी

श्रीमती सरला देवी, हमारे साधुवाद की पात्री हैं।

हिन्दी या हिन्दुस्तानी, मय उर्दू, चौदह करोड़ मानवों की साहित्यिक भाषा और सम्मिलित जीवन की भाषा में विराजमान है। इसके अलावा, इन चौदह करोड़ को लेकर, लगभग छब्बीस करोड़ लोगों की स्वाभाविक अन्तःप्रान्तिक भाषा हिन्दी ही है। इस समय पृथिवी की जनसंख्या करीब दो सौ करोड़ की है। इन लोगों में लगभग एक हजार बड़ी-बड़ी भाषाएँ और छोटी-छोटी बोलियाँ प्रचलित हैं। प्रतिष्ठापन्न बड़ी-बड़ी भाषाएँ, जो कि करोड़ों लोगों के द्वारा बोली जाती या व्यवहार की जाती हैं, उनमें संख्या के हिसाब से हिन्दी (या हिन्दुस्तानी अथवा हिन्दुस्थानी) का स्थान तृतीय है। प्रथम स्थान है उत्तर-चीनी भाषा का, जो चीन के पचास करोड़ में से, करीब चालीस करोड़ लोगों की घरेलू बोली है। द्वितीय है अंगरेज़ी, जो सोलह करोड़ लोगों की मातृभाषा है, और इसके अतिरिक्त विभिन्न जाति के, ब्रिटिश साम्राज्य और अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र के अधिकार-भुक्त, पचास करोड़ मानवों की राजभाषा है। तीसरा स्थान हिन्दी का है। इसके बाद, संख्या के क्रम से ये भाषाएँ हैं—रूसी, जर्मन, जापानी, हिस्पानी, बंगला। (भारतमें बंगला सबसे ज्यादा संख्या की जनता की मातृभाषा या घरेलू भाषा है—छः करोड़ से अधिक लोग बंगला बोलते हैं; हिन्दी या हिन्दुस्तानी इतने अधिक संख्या के मानवों की मातृभाषा न होते हुए भी, इसका प्रसार-क्षेत्र, सबसे बढ़कर है, और भारत की प्रतिभू भाषा हिन्दी ही है।) अफगानिस्तान के पूर्व से बंगाल की पश्चिमी हद तक, जम्मू और नेपाल तराई से महाराष्ट्र और उत्कल तक, हिन्दीका क्षेत्र है। पर इस विशाल भूखंड के लोगों की मातृभाषा एक नहीं, बहु हैं; यद्यपि इनकी शिक्षा और साहित्य में और बाहरी जीवन में, हिन्दी (या उर्दू) का ही प्रयोग होता है। लहन्दे या पश्चिम पंजाब की "हिन्दकी" गोष्ठी की बोलियाँ; पूर्वी-पंजाबी और डोंगरी; कुलूई, चम्मेआली सिरमौड़ी, मंडेआली, भद्रवाही, पाडरी, किऊंठाली आदि पश्चिम हिमाली बोलियाँ; मध्य-हिमाली बोलियाँ—गढ़वाली और कुमाऊनी; राजस्थान और

मालव की बोलियाँ; कोसली या पूर्वी-हिन्दी बोलियाँ—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी; बिहारी बोलियाँ—भोजपुरी, सदानी, मगही, मैथिली;— घर में इन सब बोलियों का व्यवहार जो लोग करते हैं, उनके बाहरी जीवन में, समवेत जीवन में, केवल हिन्दी (या उर्दू) ही चालू हो गई है। ये सब बोलियाँ, या तथाकथित उपभाषाएँ, व्याकरण की दृष्टि से, पछाँही हिन्दी-भाषा और पछाँही-हिन्दी-बोलियों से (अर्थात् दिल्ली की खड़ीबोली और उसके आधार पर बनी हिन्दी और उर्दू, बाँगरू, जनपद हिन्दुस्तानी, ब्रजभाषा, कनौजी और बुन्देली से) थोड़ी-बहुत पृथक् हैं। जहाँ पछाँही हिन्दी से पार्थक्य ज्यादा है, भाषातात्त्विक दृष्टि से जहाँ हिन्दी (और उर्दू) की छाया में लाई गई बोलियाँ, जहाँ केवल बोलियाँ या उपभाषाएँ नहीं हैं, पर अलग या स्वतन्त्र भाषाएँ हैं, वहाँ हिन्दी या हिन्दुस्तानी को सीखने में और इसे शुद्ध रूप में प्रयोग करने में, कठिनाई अवश्य होती है। कहीं-कहीं बच्चों की शिक्षा में, हिन्दी एक मुसीबत सी हो जाती है। इसलिए, ऐसा प्रस्ताव किया गया है कि शिक्षा के प्रचार के लिए, प्रांतिक या विभिन्न जनपद के स्थानीय साहित्य की उन्नति के लिए, हिन्दी को शिक्षा-की—कमसे कम प्राथमिक शिक्षा की—माध्यम नहीं रखा जाय; उसके स्थान पर, आवश्यकता के अनुसार प्रांतिक बोलियों को स्थापित कर दिया जाय;—जैसी मैथिली, भोजपुरी, और (मारवाड़ी) राजस्थानी को। हिन्दी-संसार में यों हिन्दी का "विकेन्द्रीकरण" किया जाय। इस प्रस्ताव से, हिन्दी-प्रेमी, तथा हिन्दी के जरिये से उत्तर-भारत के भाषागत और संस्कृति-गत ऐक्य के संरक्षण तथा परिपोषणके लिए सोचनेवाले लोग आशंकित हो गये हैं। पर प्रान्तिक सत्ता और प्रान्तिक भाषा, तथा उस भाषा को आशय करके अवस्थित प्रान्तिक या जानपद संस्कृतिक सम्बन्ध में, जनपदों के लोग अब कुछ सचेत होते जाते हैं—इनमें इन सब वस्तुओं पर आत्मियता-बोध भी आ जाता है। विशेष सहानुभूति और अनुकम्पा के साथ इस विषय का विचार करना होगा। इस विचार में चार बातों पर ध्यान देना चाहिये—

[१] व्याकरण; [२] भाषाभिमान; [३] कठिनाई; और [४] साहित्य।

यदि व्याकरण की दृष्टि से कोई प्रांतिक बोली, पछांही हिन्दी से बिलकुल पृथक् भाषा प्रमाणित हो, तभी उसके लिए हिन्दी से विकेंद्रीकरण का प्रश्न उठ सकता है। फिर केवल व्याकरण काफी नहीं है; यदि उस बोली के बोलनेवालों में अपनी बोली के लिए अभिमान रहे, यदि ये लोग आपस में जोश के साथ अपनी बोली का ही व्यवहार करें, तो सोचने की बात है, इस बोली को हिन्दी से विकेन्द्रित या अलग कर पृथक् भाषा की मर्यादा दी जा सकती है या नहीं। भाषाभिमान-बोध की मात्रा पर यहाँ विकेन्द्रीकरण की संभावना विचारणीय है। परन्तु, प्रान्तिक बोली पर अभिमान के कारण हिन्दी से किसी बोली को छूट देना मुमकिन नहीं होगा। यह भी विचारणीय है कि प्रांतिक बोली वालों को हिन्दी सीखने में कुछ कठिनाइयाँ होतीं हैं या नहीं, और इन कठिनाइयों की जाँच भी करनी है। यदि यह अनुभूत हो कि प्रांतिक बोली को छोड़ने से शिक्षा और साहित्यिक प्रकाश में उन जनपद के लोगों का कोई नुकसान होता है, तब विकेन्द्रीकरण के पक्ष में अनुकूल मत दिया जा सकता है। फिर यह भी देखना है कि प्रांतिक बोलियों में उपयोगी परिमाण का पुराना साहित्य है या नहीं। बिलकुल नये साहित्य की रचना करने की आकांक्षा लेकर, किसी साहित्यहीन अपरिणत बोली को अलग कर देना ठीक नहीं होगा। इन चार बातों पर गौर करते हुए हम देखते हैं कि केवल मैथिली के लिए पूरी तौर से हम अनुकूल मत दे सकते हैं, क्योंकि मैथिली में ये चारों बातें विद्यमान हैं। मगही के लिये [१] और [३] मिलते हैं, जह तक मैंने देखा है [२] और [४] नहीं हैं। मगही बोलनेवाले शिक्षित, चिंताशील, किसी नेता ने विकेन्द्रीकरण का सवाल नहीं पेश किया। कई वर्ष हुए, नवादा के श्रीयुत जयनाथ पति ने, मगही के लिए एक "मगही बर्हावन सभा" स्थापित करने की इच्छा प्रकट की थी। आप मगही में कुछ छोटे-छोटे उपन्यास भी लिख चुके हैं, पर मगही के लिए और किसी से किसी

प्रयास की बात मैंने नहीं सुनी। भोजपुरी में [१] [२] और [३] मिलते हैं; पर [४] की कमी है। भोजपुरी वालों में अपनी बोली के लिए एक बड़ा भारी गौरव-बोध है, और भोजपुरी जनता बड़े चाव के साथ अपनी प्रांतिक बोली में रचित गाने आदि गाती हैं; श्री राहुल सांकृत्यायन जैसे विद्वान् ने भी भोजपुरी में नये साहित्य-रचना की चेष्टा की है। पर व्यापक भाव से भोजपुरी के लिये विकेन्द्रीकरण का सवाल, अब तक दिखाई नहीं देता। पूर्वी हिन्दी बोलियों में [१], [२] और [४] हैं, पर अब तक [२] इतना प्रकट नहीं हुआ पछाँह की हिन्दी की छाया में पूर्वी हिन्दीवाले अस्वस्थ नहीं हैं। बुन्देली, कन्नौजी और ब्रजभाषा से खड़ीबोली की जो विभिन्नताएँ हैं, वे इतनी ज्यादा नहीं; इनको पृथक भाषा मानकर, यहाँ विकेन्द्रीकरण करना ठीक नहीं होगा, अनुचित और इस वक्त, असम्भव ही होगा। शुद्ध हिन्दी से उनका सम्बन्ध, चोली-दामन का सा है। मध्य और पश्चिमी हिमाली बोलियाँ हिन्दी से व्याकरण की दृष्टि से अलग हैं, पर इनमें [२], [३] और [४] का नितांत अभाव है; इसपर इनमें कोई भी एक सर्व-जन-स्वीकृत नहीं हो सकी, इसलिए हिन्दी का स्थान, स्वतः इनमें बन रहा है। राजस्थानी बोलियाँ आपस में काफी पार्थक्य रखती हैं; सिवाय मारवाड़ी के और किसीमें लक्षणीय साहित्य नहीं बन सका, और सब राजस्थानी बोलियों को एकता-सूत्र से बाँधने के लिये, सर्वजन-मान्य साहित्यिक राजस्थानी बन न सकी। मारवाड़ी (डिंगल) साहित्य, मध्ययुग के भारतीय साहित्य का एक गौरव है, परन्तु मालवीय बोलनेवाले, तथा जयपुरी बोलनेवाले, मारवाड़ी को प्रमुख या प्रतिभू-स्थानीय राजस्थानी बोली के रूप में कहाँ तक मानेंगे, यह कहना कठिन है। "छै" और "है", "को की का" और "रो री रा" के पार्थक्य मुद्रित साहित्य में भी विद्यमान हैं। विकेन्द्रीकरण सिर्फ मारवाड़ी के लिए सोचने की बात है। पर वैयाकरण विचार से यदि देखा जाय, तो यह मानना पड़ेगा कि खड़ी बोली से ब्रजभाषा का पार्थक्य जितना है, उससे कुछ विशेष अधिक पार्थक्य मारवाड़ी का नहीं है। अपनी मातृभाषा के अभिमान के कारण

मारवाड़ी को अलग साहित्यिक-भाषा बनाने के लिए, कुछ मारवाड़ी बोलनेवालों में काफी आग्रह नजर आता है, यह सच बात है; पर इसके विरोधी भी कुछ लोग हैं। साहित्यिक मर्यादा में मारवाड़ी एक श्रेष्ठ भाषा है, यह सत्य है। मारवाड़ी लोगों के लिए, हिन्दी सीखने में कठिनाई कितनी होती है, यह भी धैर्य के साथ विचारणीय है। मेरे विचार में, यदि मारवाड़ी-बोलनेवालों में अपने पुराने साहित्य की स्मृति जागृत होने के कारण, फिर साहित्य-सर्जना की ओर इनमें आग्रह दिखाई दे, तो वह सर्वथा उत्साह-योग्य है। पर हिन्दी को छोड़ना मारवाड़ियों के लिये ठीक नहीं होगा, वह कठिन भी होगा। मारवाड़ी अगर फिर भी साहित्यिक भाषा बन जाय, तो राजस्थान में इसका स्थान, पंजाब में पंजाबी का जैसा है, वैसा ही रहेगा—कुछ वर्षों के लिए; हिन्दी को मारवाड़ी के मुकाबिले में रखना मुनासिब होगा। पश्चिम पंजाब में अलग-अलग छोटी-छोटी बोलियाँ हैं, वहाँ कोई साहित्यिक भाषा नहीं बनी,— और न है जनता में अपनी प्रान्तिक बोली के लिये गर्वभाव। इस कारण, पश्चिम पंजाब में हिन्दुस्तानी (उर्दू) और पूर्वी पंजाबी साहित्यिक भाषा, इतनी आसानी से कायम हो गई हैं। पूरब पंजाब की साहित्यिक-भाषा पंजाबी ने अब ज्यादातर सिक्खों के अपनी मातृभाषा से प्रेम के कारण और गुरुमुखी लिपि की स्वतन्त्रता के कारण किसी सूरत से उर्दू और हिन्दी के सामने अपना निराला स्थान बना रक्खा है।

विकेन्द्रीकरण की नीति को यदि विचार के साथ चालू किया जाय, तो मेरे विचार में पंजाबी-सरीखी और तीन नई अप्रधान साहित्यिक भाषाओं की स्थापना हो सकती है—मैथिली, भोजपुरी, और राजस्थानी (मारवाड़ी)। इससे राष्ट्रभाषा हिन्दी की आन्तःप्रान्तिक स्थिति की विशेष हानि नहीं होगी। दक्षिण में मराठी से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध कोंकणी बोलियों में एक को, गोया (गोवा) के भारतीय ईसाई लोगों ने रोमन-लिपि के सहारे एक खास साहित्यिक रूप दिया है, इसमें किताबें और पत्र-पत्रिकायें भी निकलती हैं। पर मराठी के साथी हुए बिना कोंकणी बोलियाँ चल नहीं

सकतीं—कोंकणी का कोई सर्व-मान्य रूप नहीं है, इसलिए मराठी के अन्तर्गत रहना, इन बोलियों के लिए सहज तथा स्वाभाविक ही है। मगही, गढ़वाली, कुमाउनी आदि की भाषा-तात्त्विक चर्चा अवश्यम्भावी , इस चर्चा का नतीजा क्या निकलेगा, इसका पता हमें इस समय नहीं है; ऐसा भी हो सकता है कि ऐसी चर्चा के साथ-ही साथ इन प्रान्तिक बोलियों के लिए, स्वाभाविक ममता-बोध और इनके संरक्षण तथा संवर्धन की चेष्टा, आत्म-प्रकाश करेगी। पर यह दूर की बात है। "विकेन्द्रीकरण" ऐसा कोई भीतिप्रद या उपद्रव-मचानेवाली वस्तु नहीं बनेगी।

जीवन बोली या भाषा से बढ़कर है। छोटी-छोटी बोलियों के दिन लद चुके। अब जिस रीति से मानव-प्रगति बढ़ रही है, उससे साबित होता है कि दुनिया में लगभग एक दर्जन बड़ी भाषाएँ ही कहीं टिकेंगी। घरेलू बोली जो हो सो हो, पर हर सभ्य मानव के लिए, किसी एक अन्तःप्रान्तिक या आन्तर्जातिक भाषा से परिचित हुए बिना, चल नहीं सकता। अङ्गरेजी इस ज़माने की सबसे प्रभावशाली आन्तर्जातिक भाषा बनी है, विश्व-संस्कृति के लिए, यह एक अनोखी प्रकाश-भूमि हो गई है। हमारे लिए बाहर की हवा और रोशनी अङ्गरेजी ही की खिड़की की राह से आती है। भारत में पूर्ण स्वराज्य या पूरी स्वाधीनता आ जाने के बाद भी, कम से कम एक दो पीढ़ी तक अङ्गरेजी की जरूरत हमें रहेगी।

हमारा अन्तःप्रान्तिक काम-काज सब राष्ट्रभाषा हिन्दी ही में हो सकता है। इस अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा हिन्दी की लिपि (जब तक रोमन न हो) केवल देवनागरी ही रहेगी, और पंजाब, संयुक्त-प्रदेश, सिंध आदि प्रान्तों के लोगों के सुभीते के लिए यह राष्ट्रभाषा ऐच्छिक रूप से उर्दू-लिपि में भी लिखी जा सकेगी। प्रादेशिक शिक्षा, प्रदेशिक काम-काज सब प्रांतिक भाषाओं में होगा। विदेशी राष्ट्रों से भारत सरकार के नाम से पत्रादि विनिमय के लिए, आन्तर्जातिक भाषा फ्रांसीसी या अंग्रेजी के साथ, देवनागरी में लिखी हिन्दी या हिन्दुस्तानी ही का उपयोग होगा। भारतीय सेना-विभाग में, नौ-विभाग में, अंतःप्रान्तिक डाक और

तार विभाग में, नागरी-हिन्दी ही चलेगी। मुसलमानों के लिए प्रान्त विशेष में उर्दू-लिपि का इन्तजाम भी रहेगा। अब कुछ काल के लिए, उच्च-शिक्षा में अंगरेजी को रखे बिना काम नहीं चलेगा। पर सब प्रदेशों में, उच्च कक्षाओं के छात्रों के लिए, राष्ट्रभाषा हिन्दी को अवश्य रखना पड़ेगा; और वज़न ठीक रखने के लिए, हिन्दी प्रान्त के छात्रों के लिए और किसी प्रधान भारतीय भाषा को छात्रों की इच्छा या सुभीते के मुताबिक अनिवार्य रखना ही होगा।

और दूसरे एक विषय पर ध्यान देने की जरूरत है। ज़बर्दस्ती किसी के ऊपर हिन्दी लादने की कोशिश न की जाय, विशेष करके अहिन्दी प्रांतों के लोगों पर, जिनकी अलग साहित्यिक-भाषा है। ऐसा करना ग़लत होगा; इसका फल अच्छा नहीं निकलेगा। तामिलनाडु में ऐसी आपत्तिजनक चेष्टा का नतीजा यह हुआ, कि बहुत से तामिल लोग हिन्दी के विपक्षी हो गये हैं। हिन्दी राष्ट्रभाषा है, और बिहार की, मैथिली-मगही-भोजपुर-सदानी-भाषी जनताओं में, हिन्दी शिक्षा की भाषा बनाई गई है; अतः बिहार झाड़खंड प्रान्त के बंगाल से लगाऊ सन्थाल-परगना मानभूम और सिंहभूम इन तीन ज़िलों के, हिन्दी के उस अञ्चल पर आने के पहिले ही से बसे हुए बंगभाषियों को, बंगाल से छुड़ाकर स्कूलों में ज़बरदस्ती हिन्दी पढ़ाने का जो प्रयत्न, बिहार की कांग्रेस सरकार के कुछ कर्मचारियों ने किया है, उसका असर बंगाल पर पड़ा, और बंगालियों के एक प्रभावशाली दल में (जिसमें स्वर्गवासी बाबू रामानन्द चाटुर्ज्या भी थे) हिन्दी पर विरोध-भाव आ गया। यह सर्वथा विचारणीय है कि शिक्षा में किसी प्रतिष्ठित मातृभाषा का स्थान सबके पहले है। राष्ट्रभाषा को चाहिये कि इन विषयों पर निष्पक्ष सामंजस्य करे, और अपनी मातृभाषा के पठन-पाठन के पूरे अधिकार के साथ, सब प्रांतिक-भाषा बोलने वालों में हिन्दी के प्रति प्रीत बढ़े, ऐसा प्रयत्न करे।

जब तक हिन्दी का प्रचार अहिन्दी प्रान्तों में पूर्ण रूप से नहीं हो जाय और विभिन्न प्रदेश के राष्ट्रीय-सभा के सदस्य लोग तथा कांग्रेस के सदस्य

जब तक हिन्दी अच्छी तरह से समझ और बोल न सकें, तब तक अंगरेजी को राष्ट्रीय-जीवन में स्थान देना आवश्यक होगा। क्या करना उचित होगा, इसे हम अपनी अभिज्ञता के अनुसार आहिस्ते-आहिस्ते तय कर लेंगे। इस सम्बन्ध में कोई भविष्यवाणी करना यहाँ सम्भव नहीं है।

हिन्दी भाषा ज़ोरदार भाषा है, यह सचमुच मर्दानी ज़बान या पुरुष की बोली है। शुद्ध या ठेठ हिन्दी शब्दों के साथ-साथ संस्कृत के शब्द—इससे इसका शब्द-भंडार अनन्त बना है। इसमें और भी आये हैं—अरबी और फारसी के टकसाल के सिक्के। हिन्दी की अभिव्यञ्जना-शक्ति अपूर्व है। पर यह मानना पड़ेगा कि हिन्दी का व्याकरण सहल नहीं है "का, के" वाला मामला, विशेष्य विशेषण और क्रिया में लिंग-भेद, तथा-कथित कर्त्तृ कारक में "ने" प्रत्यय का प्रयोग, क्रिया के अतीत काल में कर्तरि, कर्मणि और भावे—ये तीन प्रयोग—इन सब बातों से, शुद्ध हिन्दी दूसरे प्रान्तों के लोगों के लिए, खास करके पूरब और दखिन के लोगों के लिए, निहायत कठिन मालूम होती है। पछांह से दूसरे प्रान्तों की जनता ने हिन्दी व्याकरण को ऐसा सरल बना दिया, कि इनमें प्रचलित चालू या बाजारी हिन्दी के व्याकरण के पूरे-पूरे सूत्र, एक पोस्ट-कार्ड पर लिखे जा सकते हैं। "मैंने राजा देखा, मैंने रानी देखी, हमने राजा और रानी को देखा, मैंने हलुवा खाया, मैंने कचौरियां खाईं"—इन मुहावरों को बाहर के लोगों के लिए अपनाने में कठिनाई होती है। इसलिए जनता ने, जिसमें विभिन्न प्रांतों के हिन्दी में अलब्ध-प्रवेश या हिन्दी को जिन्होंने अपनी नसों में नहीं भर लिया है, ऐसे लोग भी हैं—पछांही बोली की इन सब स्वाभाविक विशिष्टताओं को त्याग कर, सरल व्याकरण तथा नई शैली की चालू हिन्दी बना ली है; ऐसी चालू हिन्दी में ऊपर दिये हुए वाक्यों के रूप यों बदल जायँगे—हम राजा को देखा, हम रानी को देखा, हमलोग राजा और रानी दोनों को देखा, हम हलुवा खाया, हम तीन कचौरी खाया।" कलकत्ते में, बम्बई में, पेशावर में, पटने में, नागपुर में, करांची में, जो हिन्दी सड़कों पर घूमते फिरते आम लोगों के

मुँह से सुनाई देती है, उसका व्याकरण ऐसे ही संक्षिप्त और सहज बनाया गया है। राष्ट्रभाषा के तौर पर, जो हिन्दी आयन्दा कायम की जायगी, जनभाषा या समग्र भारत की मामूली जनता में प्रचलित सरल हिन्दी या लघु हिन्दी के प्रयोगों के मुताबिक, इसका व्याकरण यदि सरल कर दिया जाय, तो यह ज्यादातर "आम-फ़हम" और आमपसंद होगी। इस विषय पर सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन में मैंने एक प्रस्ताव लेख के आधार पर पेश किया था। निखिल भारत के अहिन्दी प्रांतों से, तथा शुद्ध हिन्दी के अपने प्रान्त पछांह से, भाषातत्त्व से परिचित कुछ प्रतिनिधियों को लेकर, इस विषय पर आलोचना करने और और अपनी राय देने के लिए एक समिति यदि नियत की जाय, तो कुछ लाभ हो सकता है।

इस खंड, छिन्न तथा विक्षिप्त भारत के लिए, हिन्दी एक बड़ा महत्त्वपूर्ण संयोग-सूत्र है। काली घटा के अन्तराल में, घने अँधेरे में मार्ग दिखानेवाली यह एक बिजली की रेखा है। विभिन्नता रहते हुए भी, समग्र भारत जड़ से एक और अखंड है, भाषा और संस्कृति के क्षेत्रों में इस सत्य का प्रतीक हिन्दी ही है। "संगछध्वं संवदध्वम्"—आधुनिक भारत के जीवन में इस मंत्र को सार्थक करने का साधन हिन्दी ही है। समग्र भूमंडल की तीसरी भाषा; चालीस करोड़ मानवों की—विश्व की मानव-संतान के पंचमांश की—होनहार राष्ट्रभाषा; ऋषि-प्रोक्त और निषाद-द्राविड़-किरात-आर्यों की मिलित चेष्टा के फल-स्वरूप हमारी प्राचीन संस्कृति-वाहिनी संस्कृत भाषा से संग्रथित, आधुनिक भारत की प्रतिभू हमारी हिन्दी भाषा; जिसके गले में अरब और ईरान के शब्द-भंडारों से लिए हुए मणि-हार हमने पहनाया है, और जिसकी शक्ति और सौन्दर्य को हमने बढ़ाया है; ऐसी भाषा पर हम क्यों न गर्व करें, और इस अनमोल देन के लिए क्यों न हम ईश्वर की स्तुति करें? मैं बंगाल से आया हूँ, पर मेरे लिए यह एक खास आनन्द की बात है कि बंगाल में, जो सदा से निखिल भारत—अखंड भारत—ही के सपने में मगन रहा है, आधुनिक भारत के विशाल

जीवन में हिन्दी के महत्त्व को इस नवीन युग में हमारी राष्ट्रीय जागृति के साथ-ही-साथ उपलब्ध कर लिया था, और विगत ईस्वी शती के प्रारम्भ से कुछ प्रमुख बंगाली साहित्यिक तथा दूसरे चिन्तानेता हिन्दी की प्रतिष्ठा और प्रचार में दत्तचित्त हुए थे। कलकत्ते के फोर्ट-विलियम कालेज के अंग्रेज विद्वान् अध्यक्ष जान गिलक्राइस्ट की सहायता से, हिन्दी गद्यशैली की नई स्थापना हुई; पंडित लल्लूजीलाल और सदल मिश्र की कृति के बारे में कुछ कहना फिजूल है। ईस्वी उन्नीसवीं शती के बीच तक, मुसलमानों में भी उर्दू की प्रतिष्ठा अधिकतया नहीं हुई थी; १८२२ सन् के मार्च के अन्त में कुछ अंग्रेजों की चेष्टा से कलकत्ते में सबसे पहले उर्दू साप्ताहिक संवाद-पत्र "जाम-ए-जहाँनूमा" का प्रकाशन होने लगा; केवल उर्दू का अखबार—इसके ग्राहकों के लिए रोचक न होने के कारण, सात संख्याओं के बाद अष्टम संख्या से यह पत्र उर्दू और फारसी दोनों भाषाओं में प्रकाशित होने लगा, फिर थोड़े दिन के बाद उर्दू अंश का वर्जन हुआ, यह अखबार १८४९ सन् तक फारसी का ही रहा। उत्तर भारत में उस समय शिक्षित जनों के लिए, मुगलयुग की राजभाषा फारसी समधिक प्रचलित थी, इस वास्ते नवीन भारत के स्रष्टा राजा राममोहन राय, ईस्वी १८२२ के अप्रैल से "मीरातु-ल्-अखबार" नाम का एक फारसी संवाद-पत्र निकालने लगे, वह उन्हीं की सम्पादना से बरस भर चला, फिर नए प्रेस आईन के प्रतिवाद से राजा ने उसे बन्द कर दिया। सबसे पुराना हिन्दी संवाद-पत्र "उदन्त मार्तण्ड" कानपुर-निवासी युगलकिशोर सुकुल के द्वारा कलकत्ते से निकलने लगा, मगर १८२६-१८२७ को नौ, महीने के बाद, यह पत्र बन्द हो गया। उस जमाने में बंगाल से ६ फारसी संवाद-पत्र निकलते थे, उनमें केवल एक में उर्दू का कुछ अंश रहता था; उर्दू अखबार का चाव भी नहीं था।

कुछ बंगाली हिन्दी लेखक प्रकट हुए हैं। बंगालियों के लिए हिन्दी सीखना कुछ नई बात नहीं थी। तुर्क लोगों के आने के पहले ही से हिन्दी का पूर्व-रूप शौरसेनी अपभ्रंश बंगाल में भी चालू था, वहाँ के प्राचीन बौद्ध

तथा ब्राह्मण-धर्मी कवि लोग, न केवल अपनी मातृभाषा पुरानी बंगला में, पर शौरसेनी या पछाँही अपभ्रंश में भी कविता करते थे। ईस्वी सोलहवीं तथा सतरहवीं शती में हिन्दी-साहित्य का विशेष प्रभाव, बङ्गला साहित्य पर पड़ा; बंगाल के कुछ मुसलमान कवियों ने, हिन्दी के कई नामी ग्रन्थों का बंगला अनुवाद किया, जिनमें कवि आलाओल कृत मलिक मुहम्मद जायसी की "पदुमावत" का अनुवाद लक्षणीय है; सतरहवीं शती में हिन्दी "भक्तमाल" का भी बङ्गला अनुवाद हो गया। अठारहवीं शती के सर्वश्रेष्ठ बङ्गाली कवि भारतचन्द्र राय गुणाकर फारसी, संस्कृत और हिन्दी अच्छी तरह से जानते थे, और इन्होंने कुछ हिन्दी कविताएँ भी लिखी थीं, जो इनकी रचनाओं के संग्रह में मिलती हैं। अंग्रेज अमलदारी के बाद, बङ्गालियों में हिन्दी की चर्चा की कमी नहीं हुई। तारा-चन्द मित्र ने हिन्दी "बेतालपचीसी" का संशोधित संस्करण १८०५ सन् में निकाला था। पंडित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे। नव-स्थापित कलकत्ता विश्वविद्यालय में हिन्दी के परीक्षक भी होते थे। "बेताल पचीसी" का बङ्गला अनुवाद जो इन्होंने किया था, अब बङ्गला गद्य का एक श्रेष्ठ निदर्शन समझा जाता है। समग्र भारत के राष्ट्रीय जीवन में हिन्दी के स्थान के विषय पर बंगाल के नेता लोग विचार करने लगे, आज से कोई सत्तर साल पहिले। १८७५ ईस्वी में केशवचन्द्र सेन ने अपने बङ्गला संवाद-पत्र "सुलभ समाचार" में इस विषय पर लिखा था—

"यदि भाषा एक ना हइले भारतवर्षे एकता नाहय, तबे ताहार उपाय कि ? समस्त भारतवर्षे एक भाषा व्यवहार करा-इ उपाय। एखन जतोगुलि भाषा भारते प्रचलित आछे, ताहार मध्ये हिन्दी भाषा प्राय सर्वत्र प्रचलित। एइ हिन्दी भाषाके यदि भारतवर्षेर एकमात्र भाषा करा जाय, तबे अनायासे शीघ्र सम्पन्न हइते पारे। किन्तु राजार साहाय्य ना पाइले कखनोइ सम्पन्न हइबे न, एखन इङ्गरेजजाति आमादेर राजा। ताँहारा जे ए प्रस्तावे सम्मत हइबेन, ताहा विश्वास करा जाय ना। भारत-

वासीदेर मध्ये अनैक्य थाकिबे ना, ताहारा परस्पर एक-हृदय हइबे, इहा मने करिया हय तो इङ्गरेजर मने भय हइबे। ताँहारा मने करिया थाकेन जे, भारतवासीदेर मध्ये अनैक्य ना थाकिले, ब्रिटिश साम्राज्य स्थिर थाकिये ना।......भारतवर्षेर मध्ये जे-सकल बड़ो-बड़ो राजा आछेन, ताँहारा मनोयोग करिले, ए कार्यटी आरम्भ करिते पारेन।......जेमन एक भाषा करिते चेष्टा करा कर्त्तव्य, तेमनि उच्चारणके-ओ एकरूप करिते चेष्टा करा कर्त्तव्य।......भाषा एक ना हइले, एकता हइते पारे ना।"

इससे मालूम होता है कि भारत के राष्ट्रीय ऐक्य के लिए केवल हिन्दी के द्वारा ही भाषासाम्य संभव था, ऐसा विचार उनका था; उनके मन में ऐसी आशंका भरी हुई थी, कि अङ्गरेज लोग इसे होने नहीं देंगे—आज कार्यतः हम जैसे देखते हैं। इस काम के लिए भारत के राजा-महाराजाओं की सहायता की जरूरत थी। अभी तक यह जरूरत है। शिक्षाव्रती भूदेव मुखुर्ज्या ने कोई पचास साल पहिले लिखा था—

"भारतवासीर चलित भाषागुलिर मध्ये हिन्दी-हिन्दुस्थानी-इ प्रधान, एवं मुसलमान दिगेर कल्याणे उहा समस्त-महादेश-व्यापक। अतएव अनुमान करा जाइते पारे जे, उहाके अवलम्बन करिया-इ, कोनो दूरवर्ती भविष्य काले, समस्त भारतवर्षेर भाषा सम्मिलित थाकिबे।"

जब १९०५ साल के बाद बंगाल में बंग-भंग अन्दोलन शुरू हुआ, और विदेशी द्रव्यों के बहिष्कार तथा स्वदेशी द्रव्यों के व्यवहार की नीति इस अन्दोलन के फलस्वरूप समस्त भारत में गृहीत हुई, तब स्व० कालीप्रसन्न काव्यविशारद आदि बंगाल के कुछ नेताओं ने निहायत सहजभाव से भारत के राष्ट्रीय जीवन में हिन्दी को मान लिया था।

रवीन्द्रनाथ स्वयं हिन्दी-प्रेमी थे। उन्होंने कबीर के सौ पदों का अंग्रेजी अनुवाद किया था, इससे मध्य-युग के हिन्दी साहित्य के एक श्रेष्ठ अनुभवी कवि की रचना से तमाम सभ्य जगत को परिचय मिला। गुजरात में भ्रमण करने के समय रवीन्द्रनाथ हिन्दी ही में भाषण दिया करते थे।

इस प्रकार हिन्दी को और भी बढ़ाया अहिन्दी प्रान्त के प्रमुख चिंता-नेताओं ने। यह हर्ष की बात थी कि ऐसे अन्तर्वेद तथा संयुक्त-प्रदेश, मध्य भारत और बिहार प्रान्तों के बाहर के लोगों ने हिन्दी का समादर किया। महर्षि दयानन्द स्वयं गुजरात प्रान्त के थे; पंजाब तथा उत्तर भार के हिन्दुओं में सांस्कृतिक-जागृति और साथ-ही-साथ हिन्दी की प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने जो कुछ किया था, वह भी आधुनिक युग के भारत के इतिहास का विषयीभूत हो गया है। गुजरात के और एक सुपुत्र भारत के युगनेता तथा युगावतार महात्मा गांधी ने अपनी दिव्य दृष्टि से दक्षिण अफ्रीका में रहते समय से हिन्दी के महात्म्य को उपलब्ध कर लिया था, और भारतीय जीवन में हिन्दी का योग्य स्थान बनाने के लिए इनका काम सब से कार्यकर और व्यापक हुआ। यह हमारे लिए खेद की बात है कि इस वक्त उनकी दृष्टि भाषा-विषयक दूसरे आदर्श पर पड़ी है; परन्तु हमारा विश्वास है कि जिस अमर तरु को इतने वर्षों तक उन्होंने अपने ध्यान और कर्म के पानी से सींचकर बढ़ाया, वह मरने का नहीं—राष्ट्रीय भाव से भरी हुई, संस्कृत के अक्षय शब्द-भण्डार की उत्तराधिकारी, इस्लामी तथा आधुनिक संस्कृतियों के उपयोगी विदेशी शब्दों से शक्तिशाली हिन्दी भाषा, भारत के तिरंगे झंडे के साथ अपना सिर ऊँचा किये रहेगी।

विक्रम संवत् २०००

महाकाल-स्वरूप, रुद्र और सुन्दर, भैरव और मंगल जिस नटराज शिव के नृत्य-छन्द से ग्रह-नक्षत्रों की सृष्टि, स्थिति और ध्वंस होते हैं, ब्रह्मा और इन्द्रों का आना-जाना होता है, संसार की जातियों के उत्थान और पतन होते हैं, उसीकी कृपासे हमारी हिन्दू-जाति अपने एक गौरवमय युग के दो हजार वर्ष बिताकर अब एक नई सहस्राब्दी के प्रारम्भ में आ खड़ी हुई है। हमारी सबसे पुरानी वर्ष-गणना तो कल्यब्द है, जिसका हिसाब ईसू खिस्त के पूर्व ३२०१ बरस से गिना जाता है। अब तो कल्यब्द ५०४४ चालू है। परन्तु इस कल्यब्द के बारे में ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि यह अब्द उसी समय से अर्थात् अर्जुन के पौत्र और अभिमन्यु के पुत्र राजा परीक्षित् के राज्यकाल से चला आ रहा है, या पिछले समय में ज्योतिषिक पण्डितों ने इस अब्द को बना लिया और व्यवहार में ले आए। हमारी भारतीय संस्कृति की प्राचीनता के विषय में हमारे पूर्वजों ने पुराणों में बड़े ही जोश के साथ अपनी राय या अपने विचार प्रकट किये हैं, जिसमें हजारों और लाखों की गिनती कुछ ऐसी बड़ी बात नहीं है। यहाँ तक कि हमारे कुछ विद्वानों ने आधुनिक काल के प्रकाशित कतिपय संस्कृत और हिन्दी ग्रन्थों में एक 'सृष्ट्यब्द' का भी प्रयोग किया है। इस विचार के अनुसार, अब विक्रम संवत् २००० और ईस्वी सन् १९४३ में विश्व-सृष्टि से १,९७,-२९,४९,०४३ बरस बीत गए हैं। ऐसी गणना में ईस्वी सन्, ईसा पूर्व या कल्यब्द का भी कोई स्थान नहीं। इस सृष्ट्यब्द के सामने और सब

अब्द समुद्र के सामने गोष्पद-जैसे हैं । ईसाई लोग एक सृष्ट्यब्द को मानते हैं, जो ईसू ख्रिस्त के पहले के ४००४ बरस से गिना जाता है ; अब इस अब्द की गणना सिर्फ ५९४७ है । यहूदी लोग और एक सृष्ट्यब्द मानते हैं—इस वक्त उसका ३५७०वाँ साल चल रहा है ; मगर ये सब सृष्टि-अब्द मनचाही चीजें हैं । इनमें ऐतिहासिक सचाई का कोई प्रमाण नहीं । कल्यब्द के बाद एक प्राचीन भारतीय अब्द अब बौद्ध धर्म के देशों में—खासकर सिंहल, ब्रह्म, स्याम और कम्बोज में—चालू है, जो बुद्ध भगवान के जन्म से गिना जाता है और जो अब २४८७ वें बरस में है । यह भारतवर्ष की, शायद पृथ्वी की, सबसे पुरानी ऐतिहासिक वर्ष गणना है । पुराने जमाने के यवन या ग्रीक लोग ओलम्पिया में देवराज जेउस पातेर या द्यौष्पिता के चौबरसिया त्यौहार के प्रारम्भ काल (ईसू ख्रिस्त के जन्म से ७७६ साल पूर्व) से जो Olympiad या ओलम्पिया-अब्द मानते थे वह और रोमक या रूमी लोग रोम शहर की प्रतिष्ठा (७५३ ई० पू०) के काल से जो अब्द मानते थे—ये दोनों अब चालू नहीं हैं । ईसाई तारीख ने इन दोनों को मिटा दिया है । बुद्धाब्द के बाद यह विक्रम संवत् स्थापित हुआ था, जो ईसू ख्रिस्त के ५८ अथवा ५७ बरस पूर्व से चालू हुआ और अब तक चला जा रहा है ।

विक्रम संवत के उद्भव और इसके प्राचीन नामों के विषय में ऐतिहासिक पण्डितों ने बहुत-कुछ खोज की है । ऐसी ऐतिहासिक खोज से हमारे बहुत से प्रचलित सिद्धान्तों, मतवादों या विश्वासों का जिन्हें जनता मानती है और जो पुराने ढंग के विद्वानों के लिए स्वयंसिद्ध या सत्य हैं, बहुशः संशोधन होता है, और कभी-कभी संशोधन के कारण वे प्रचलित विश्वास, मतवाद या सिद्धान्त भित्तिहीन अथवा गलत या अशुद्ध भी प्रमाणित हो जाते हैं । वैज्ञानिक अर्थात् ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से भी ऐसी ऐतिहासिक खोज पर ऐसे संशोधन की जरूरत माननी होगी । आध्यात्मिक विचार से भी इसकी उपयोगिता है, क्योंकि 'नास्तिसत्यात् परो धर्मः'—सत्य से बढ़कर कोई दूसरा धर्म नहीं है । अतः इस सत्य का निर्णय और निर्णीत

सत्य की प्रतिष्ठा होनी ही चाहिए। पर नया सत्य जब तक प्रतिष्ठित न हो, तब तक संशोधन का मार्ग तत्त्वज्ञ के सिवा साधारण मनुष्य के लिए विभ्रमकारी होता है जब तक प्रमाणित सत्य में हमलोग नहीं पहुँच सकते, तब तक प्रचलित मतवाद जनता के लिए काफी होता है। विक्रम संवत् के, जिसकी तीसरी सहस्राब्दी का सूत्रपात आज होता है, प्रतिष्ठाता के रूप में मालवराज विक्रमादित्य को हम जानते हैं, जिनकी उज्जयिनी नगरी राजधानी थी और नवरत्न सभा में महाकवि कालिदास विराजते थे। आधुनिक इतिहास इस विक्रमादित्य के अस्तित्व के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट कर रहा है। इतिहास की राय यह है कि विक्रम संवत् की अब्द गणना किसी राजा ने प्रतिष्ठित नहीं की थी; बल्कि यह मालव-जाति के गणतन्त्र की नई स्थापना के स्मारक-स्वरूप मालव प्रजागण द्वारा प्रतिष्ठित हुई थी, इसलिए इसका एक प्राचीन नाम था 'मालवगण-स्थिति'। महाराज विक्रमादित्य नाम से इसका सम्बन्ध लगाया गया था, लगभग ईस्वी आठवीं शती में। इस 'मालवगण-स्थिति' का एक और नाम भी प्राचीन लेखों से मिलता है— 'कृत' 'क्रित' या 'क्रीत'। इन तीन रूपों में इस शब्द के अर्थ का ठीक पता नहीं चलता ; पर एक विद्वान का अभिप्राय यह है कि इन तीनों का मूल रूप 'क्रीत' ही है, जिसका मतलब है—'खरीदा हुआ।' इससे एक ऐसे शक-पार्थव राजवंश के भारत के किसी अंश पर राज करने का काल सूचित होता है, जिस राजवंश के कुछ राजा पहले-पहल अपने पूर्वगामी राजाओं के खरीदे हुए गुलाम थे, जैसे देहली के तुर्की राज्य के कुछ बादशाह गुलाम राजा कहलाते हैं। कहाँ भारत की कल्पना की ज्योति से उज्ज्वल महामहिम महाराज विक्रमादित्य की प्रयोजना से विक्रम संवत् की प्रतिष्ठा और कहाँ विदेशी शकपार्थव 'क्रीत' या खरीदशुदा गुलाम बादशाहों के नाम से इसका संयोजन! परन्तु इस विचार में बुद्धि की दृष्टि से हमें पक्षपातशून्य रहना चाहिए। 'क्रीत' शब्द की जो व्याख्या दी गई है, वह असम्भव नहीं है; पर प्रमाणित नहीं। 'मालवगण-स्थिति' नाम के अनुसार, संवत् शब्द राजपूताने में

मालव गणतन्त्र की नई प्रतिष्ठा का अब्द है, यह व्याख्या मानने लायक है। प्राचीन भारत के गणतन्त्र के इतिहास और उसकी प्रकृति के विषय में स्व० काशीप्रसाद जी जायसवाल ने काफी प्रकाश डाला है। उन्होंने विक्रम संवत् की उत्पत्ति के विषय में अपनी विख्यात पुस्तक 'हिन्दू पालिटी' के प्रथम खण्ड के पृष्ठ १५२-१५३ में जो लिखा है, वह इस बात पर आखरी सिद्धान्त माना जा सकता है। मालव-जाति ईसू ख्रिस्त के पूर्व चौथी शती में यवन सम्राट् अलेक्सन्दर के साथ लड़ी थी। यह पंजाब की एक प्राचीन आर्य जाति थी, जिसके जीवन में स्वाधीनता का बड़ा स्थान था। इसकी शूरता, देशभक्ति और स्वाधीनता-प्रियता के काफी उदहारण यवन लेखकों के ग्रन्थों में मिलते हैं। अपनी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए, यवन, शक-पार्थव आदि विदेशी जातियों की सेनाओं से अपने को बचाने के लिए, मालव-जाति के लोग, उसी प्रकार की और कई जातियों के लोगों के साथ, ईसा के पहले की द्वितीय शती में पंजाब से राजपूताने में आकर उपनिविष्ट हुए थे। इनका एक प्रबल शत्रु था पार्थव राजा नहपाण। खीस्त-पूर्व ५८ सन् में आन्ध्रराज गोमती पुत्र ने नहपाण को लड़ाई में हरा दिया और जान से मार डाला। यह घटना मालवों के लिए जीवन-रक्षा कारक हुई, इसलिए मालव-जाति ने भविष्य काल के ज्ञापन के लिए ईसा पूर्व ५८-५७ वर्ष से 'मालवगण-स्थिति' नाम से संवत् अब्द का स्थापन किया था। अपनी जाति के लिए 'कृत' या एक नया सत्ययुग आनेवाला है, इस ख्याल से 'मालवगण-स्थिति' को 'कृत' भी कहते थे। फिर मालव-जाति का फैलाव राजपूताने में बहुत हुआ। इसके नाम पर मालव देश ने भी एक नए नाम को प्राप्त कर लिया। यह अब्द-गणना मालव-जाति के विक्रम या पराक्रम का भी साक्ष्य देती है, इसलिए इसका नाम 'विक्रम' संवत् रखा गया; दरअसल यह विक्रमादित्य नाम के किसी राजा के नाम से नहीं हुआ, पूरी जाति के लोगों के विक्रम या शूरता का प्रकाशक है।

ऐतिहासिक खोज से जो-कुछ निकले, सो निकले; पर यह बात तो

अविसंवादित है कि आज से दो हजार बरस पूर्व से यह अब्द हिन्दू-जाति के इतिहास को प्रकाशित करता आया है। ईसा के बाद ७८ बरस बीत जाने से कुषाण या शक-वंशीय राजाओं ने एक नया अब्द कायम किया, जो 'शकाब्द' नाम से आजकल हिन्दू-संसार में चालू है और जो भारत के बाहर द्वीपमय भारत में (यवद्वीप आदि में) और इन्दो-चीन में भी फैल गया। पर विक्रम संवत् का-सा गौरव इसका नहीं। बाद में गुप्त राजाओं ने 'गुप्ताब्द' चलाया, और कुछ नए अब्द भी बनाए गए; मगर इनमें कोई भी विक्रम संवत् के तुल्य नहीं। किसी गौरवमय घटना की स्मृति, किसी आशापूर्ण अवस्था की याद लेकर विक्रम संवत् जरूर ही उदित हुआ था, जिसका कुछ-कुछ पता जायसवाल जैसे ऐतिहासिकों ने लगाया।

मालवगणों की स्थिति के बाद बना हुआ नया कृतयुग गुप्त अमलदारी के पश्चात् 'महाराज विक्रमादित्य' के नाम से मिल गया। यह महाराज विक्रमादित्य कौन थे ? ऐतिहासिकों की राय है कि यह विक्रमादित्य सचमुच गुप्त-वंश के सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त थे, जिनका बिरुद या उपनाम भी था विक्रमादित्य। इन्होंने ईस्वी सन् लगभग ३८० से ४१४ तक राज किया था और भारत के विदेशी शत्रु हूणों से लड़ाई की थी। ये प्रजारंजक राजा थे, और विचार यह है कि इन्हीं के राज्यकाल में महाकवि कालिदास प्रकट हुए थे। इनके उपनाम के कारण 'मालवगण स्थिति' का कृत या विक्रम अब्द महाराज विक्रमादित्य का अब्द बन गया, और इस संयोग का नतीजा यह हुआ कि ईसा के पूर्व प्रथम शती में यह विक्रमादित्य खुद लाए गए।

किसी देश की जनता इतिहास के सन् और तारीख की परवाह नहीं करती, राजाओं की परम्परा नहीं मानती। इतिहास में जो कुछ चिदानन्दकर मिलता है, उसी का स्मरण जनता के मन में अपना प्रभाव डाल देता है। चित्त विक्षोभकारक बात भी जनता जल्द ही भूल जाती है। दुःख की स्मृति कभी-कभी रह जाती है; पर उतनी नहीं, जितनी सुख की। भारतीय जनगणों ने अपने राजादर्श से उज्जयिनी-पति नवरत्न-

सभाधीश महाराज विक्रमादित्य के व्यक्तित्व को मूर्त्तिमान कर दिया है। यह भारतीय जन के चित्त में अब तक विराजमान है। वास्तव में यह कल्पना अधिक मनोमुग्धकर हो गई है। 'विक्रम संवत् के राजा विक्रम'—इस बात से हिन्दू-जनता के समक्ष जिस प्रजारंजक, गुणिजन-पोषक, न्यायधर्मी, शूरवीर देशरक्षक राजा का आदर्श उदित होता है, मानो राजा राम को छोड़कर और कहीं राजधर्म का इतना उच्च आदर्श नहीं मिलता। प्राचीन भारतीय संस्कृति का मानो एक सम्पुट बनकर यह नाम और इस नाम का अब्द हमारे सामने विद्यमान है। अगर शब्दों में कहें, तो इतना ही कहना काफी होगा कि 'विक्रम-संवत्' में हिन्दू इतिहास विजड़ित है और हिन्दू-आदर्श इस नाम में छिपा हुआ है।

प्राचीनकाल में बहुत-सी जातियाँ प्रकट हुई थीं, और विश्वमानव अर्थात् समग्र मानव-जाति के लिए अपने-अपने उपहार, समग्र मानव-सभ्यता की पुष्टि के लिए अपने-अपने दान लाकर अतीत के गर्भ में विलीन हो गई हैं। मिसरी, ईजीयन, खलदेया, असुर, यवन, रोमक—ये सब जातियाँ चली गईं। तीन प्राचीन जातियों के साहित्य में मानव-चिन्तन और सौन्दर्य-सर्जन की श्रेष्ठ वस्तुएँ मिलती हैं। परमार्थ-लाभ करने के लिए सब से मौलिक और गम्भीर भाव-संभार सिर्फ इन तीन प्राचीन जातियों ने दिए हैं। ये तीन जातियाँ हैं—हिन्दू या प्राचीन भारतीय, यवन या प्राचीन ग्रीक और चीनी। इनमें यवनों का नाम निशान अब मिट गया है; पर भारतीय अर्थात् हिन्दू और चीनी—ये दो जातियाँ अब तक जीती-जागती हैं। प्राचीन-युग के सब प्रौढ़ और सुकृतिवान् जनगणों में केवल दो ही आज तक मरे नहीं हैं, जीते हैं—हिन्दू और चीनी। इसका कारण यह है कि इन जनगणों के लोग पूरी तौर से अपने प्राचीन धर्म और अपनी प्राचीन संस्कृति से छूटे नहीं हैं। अपने धर्म और अपनी जीवन-रीति की रक्षा करते हुए प्राचीनों से, पूर्वजों के पुण्यअवदान से, इन्होंने अपनों को अलग नहीं कर दिया है। प्राचीन के क्रमशः

परिवर्त्तन में जीवन है। प्राचीन से संयोग-सूत्र छिन्न होने से जीवन में—खासकर मानसिक और आत्मिक जीवन में—भी हानि पहुँचती है। प्राचीन के ऊपर आधुनिक की प्रतिष्ठा को जब हम सहज भाव से मान लेते हैं, तब बहुत-सी जातियों में हम ऐसा ही देखते हैं। हमारी संघ-शक्ति बढ़ती है, अपने को दिवालिया और पर-प्रसाद-पुष्ट सोचने का अवकाश हमें नहीं मिलता, और इससे हम आत्मिक दैन्य से बच जाते हैं। कम से कम दो हजार साल की स्मृति और संयोग इस विक्रमाब्द से हमारे सामने मूर्त्तिमान हैं। इस कारण इस अब्द का अस्तित्व हमारे जातीय जीवन में शक्ति लानेवाला है।

इन दो हजार वर्षों में कितना-कुछ हुआ! पृथिवी का इतिहास इन हजार वर्षों में कई बार उलट गया। रोम का साम्राज्य विस्तार, आखिर रोम का पतन, यूरोप में प्राचीन धर्म का विलोप और ईसाई धर्म का उसके स्थान में आकर उसे ले लेना; इधर इस्लाम का उद्भव होना और फैलना, इराक और हिस्पान (स्पेन) में इस्लामी सभ्यता का विकास, मंगोल और ईसाइयों के हाथ उसका विनाश; भारत में बौद्ध और ब्राह्मण्य धर्मों के साथ सभ्यता का फैलाव, द्वीपमय भारत, Indo-China इन्दो-चीन और Serendia चीन-हिन्द में एक 'बृहत्तर भारत' का स्थापन, भारत में दार्शनिक और वैज्ञानिक तथा कला-विषयक और साहित्यिक उन्नति की पराकाष्ठा; भारत पर शक हूणों का आक्रमण, उनका उपनिवेश, आखिर तुर्कों द्वारा भारतीय संस्कृति पर किया हुआ भयंकर आक्रमण और भारत के मुसलमान-युग का आरम्भ, मुसलमान राज्य का प्रसार, मुगल सम्राटगण के समय भारतीय सभ्यता के इस्लामीय रूप की प्रतिष्ठा; फिर पुर्त्तगाली, फ्रांसीसी, अंगरेज आदि यूरोपीय जातियों के लोगों का आगमन; मध्ययुग के सिद्ध, भक्त और सन्तों द्वारा भारतीय ईश्वर-बोध का नया फैलाव; उधर यूरोप में गण महाराज का अभ्युदय—फ्रांसीसी क्रान्ति, इंग्लैण्ड के भारत-अधिकार के फल-स्वरूप उसके साम्राज्य की दृढ़ प्रतिष्ठा और व्यापारिक तथा औद्योगिक उन्नति; जर्मनी का उदय,

इंग्लैण्ड और जर्मनी में शत्रुता, विगत महायुद्ध ; और रूस की क्रान्ति, जिससे समग्र दुनिया के प्राचीन रीत-रस्म, औरों को दबाकर जो अर्थनीति और राष्ट्रनीति आज प्रबल हैं, उनके साथ ही साथ जो रीति-रस्म कायम हैं, वे दूर हो जानेवाले हैं। और सब से बढ़कर है विभिन्न प्रकार के स्वार्थों और आदर्शों के संघर्ष से पैदा इस समय का महासमर। न-जाने इसका नतीजा क्या होगा, कहाँ तक जातिगत स्वार्थ-बोध और दुर्बलों पर अत्याचार पृथिवी से मिट जायँगे। हम भारतीयों के लिए विक्रम संवत् की यह नवीन सहस्राब्दी क्या लायगी, इसका भी पता नहीं है।

मनुष्य के जीवन में वर्षगाँठ या सालगिरह का दिन स्मरणीय होता है। ऐसे दिन में मनुष्य विचारकर देख सकता है कि मानसिक, आध्यात्मिक तथा भौतिक जीवन में नफा-नुकसान क्या हुआ, आशा-आकांक्षा कहाँ तक पूरी हुई और चिन्ता-आशंकाएँ कहाँ तक दूर हुईं। मनुष्य नव वर्ष के लिए नए संकल्प करता है और नवीन आशा तथा उत्साह से काम में लग जाता है। जाति के जीवन में एक-एक शती एक-एक वर्षगाँठ-सी होती है। सहस्राब्दी खत्म हुई, मानो जाति के जीवन के दस साल बीत गए। यूरोप में ईसाई लोग सोचते थे कि जब ईसाई अब्द के हजार साल पूरे हो जायँगे, तब पृथिवी में प्रलय होगा, स्वर्ग से अपने फरिश्तों को साथ लाकर ईसू ख्रिस्त फिर नया अवतार लेंगे, रोज-ए-कयामत जाहिर होगा और स्वर्ग-राज्य की नींव डाली जायगी। लोग बड़ी आशंका में थे कि दुनिया का क्या होगा ? बहुत से लोग जोश के साथ धर्म-कर्म करने लगे। पर ईस्वी अब्द १००० बीत गया, दुनिया पूर्ववत् ज्यों की त्यों चलती रही। जाति के जीवन में उस जाति में व्यवहृत अब्द के शतक या सहस्रक खत्म होने के समय कुछ आशंका, कुछ आशा का आना स्वाभाविक है। शती या सहस्राब्दी खत्म हो जाने का समय क्रान्ति लाता है, ऐसा विचार भी स्वाभाविक है। मुगल सम्राट भारत-तिलक अकबर बादशाह के राज-काल में इस्लामी अब्द हिजरी के पहले सहस्र वत्सर पूरे हुए। इस घटना के स्मारक-स्वरूप अकबर ने 'तारीखे अलूफी' अर्थात्

'सहस्रक का इतिहास' नामक एक इतिहास-ग्रन्थ फारसी में लिखवाया था, जिसमें नबी मुहम्मद के समय से अकबर के समय तक इस्लामी दुनिया का एक ऐतिहासिक सिंहावलोकन था। ऐसे सुन्दर उपाय से पुरानी सहस्राब्दी को विदा दे दी गई और साथ ही नई का आवाहन किया गया। अनजान में हम लोगों ने भी जाति की ओर से ऐसे ही काम में हाथ लगाया है। विक्रम संवत् की तीसरी सहस्राब्दी के शुरू के साथ-ही-साथ कम से कम चार भारतीय इतिहास-ग्रन्थ बनाने की कोशिश चल रही है। काशी की भारतीय इतिहास-परिषद् ने सर यदुनाथ सरकार के सम्पादकत्व में भारतवर्ष का एक विराट् इतिहास बनाने का काम हाथ में लिया है,[1] जिसके पूरा होने में कई बरस लग जायँगे। वैसा ही दूसरा एक इतिहास भारतीय इतिहास-सम्मेलन भी बनाकर प्रकाशित करेगा।[2] ढाका-विश्वविद्यालय से बंगाल-प्रदेश के इतिहास का पहला खण्ड शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है।[3] उधर गुजरात से श्री कन्हैयालाल मुन्शी के सम्पादकत्व में मूलराज सहस्राब्दी-जयन्ती के स्मारक 'The Glory that was of Gurjaradesa' नामक इतिहास-ग्रन्थ निकलनेवाला है।[4] ये पुस्तकें हमारी आत्म-समीक्षा के लिए, हम हिन्दू-जाति या भारतीय जाति के लोगों ने इतने शतक-भर क्या-क्या किया, उस सब के दिग्दर्शन के लिए निहायत उपयोगी होंगी।

हम लोग चाहे जितने ही विचारशील हों, जितने ही वैज्ञानिक

१—परिषद् की ओर से वकाटक-गुप्तकाल पर एक खण्ड प्रकाशित करके इसका काम समाप्त कर दिया गया है।

२—इस संस्था ने अभी तक एक भी खण्ड प्रकाशित नहीं किया है। भविष्य में भी प्रकाशन की कोई संभावना नहीं दिखाई पड़ रही है।

३—डा० रमेशचन्द्र मजुमदार के सम्पादकत्व में इसका एक बृहत् खण्ड ढाका से और दूसरा तथा अंतिम खण्ड कलकत्ते से प्रकाशित हो चुका है।

४—श्री मुन्शी की प्रस्तावित पुस्तक तीन खण्डों में भारतीय विद्याभवन, बम्बई, १९४३ में प्रकाशित हुई है।

मनोभाव-युक्त हों, हमारे अन्तःकरण में कल्पना की या रसग्राहिता की एक धारा अन्तःसलिला फल्गु नदीसी बहती है। वह हमें कवि, भावुक या रसिक बना देती है। उसी के कारण हम एक मामूली दिन में बहुत से गुण देखते हैं, किसी काल में विशेष कुछ महात्म्य देखना चाहते हैं। कुछ विशेष मुहूर्त्त रहें या न रहें, हम ऐसे शुभ अवसर को छोड़ नहीं सकते। जो सहस्राब्दी बीत गई, उसमें भला और बुरा दोनों ही हमारे जीवन में महाकाल ला चुका है। इन भलों और बुरों की जाँच हम इस वक्त नहीं कर सकते। रुद्र के साथ अगर हमने एक पात्र से विष पिया है, तो भी हमें यह ज्ञान है कि हम अमृत के पुत्र हैं, हम मरने के नहीं। बुराइयाँ जो हमें पहुँची हैं, उनसे मुक्त होने के लिए ईश्वर हमें शक्ति दें, हमें एकता दें, हमें समर्थ बनायँ। ये बुराइयाँ हमारी परीक्षा के लिए भाग्य-देवता की देन हैं। हम ईश्वर के सामने, पृथिवी की सब जातियों के सामने इस परीक्षा में उत्तीर्ण हों। और जो अच्छी चीजें, जो भलाइयाँ हमें मिली हैं; उनके लिए ईश्वर के पादपीठ पर हमारी कृतज्ञता पहुँचे। हम दुःख का स्मरण करें, ताकि हम दुःख को दूर करने में चेष्टित हों; सुख का स्मरण करें ताकि हम उत्साहित हों। हमारी राष्ट्रीय स्वाधीनता चली गई है। हममें बहुविध नीचताएँ और जड़ताएँ आ गई हैं। हमें फिर उच्चमनाः, साहसी और उत्साही बनना चाहिए; अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता और शक्ति को फिर जाग्रत करना चाहिए। कई महापुरुष अपने पुण्य जीवन के आदर्श हमारे सामने गए सहस्र वर्षों में लाए हैं : पृथ्वीराज चौहान, आचार्य हेमचन्द्र, रामानन्द, कबीर, राणा प्रताप, सायणाचार्य, महाप्रभु चैतन्य, गुसाईं तुलसीदास, सम्राट अकबर, शिवाजी, समर्थ रामदास, गुरु नानक, गुरु गोविन्दसिंह, रानी अहल्याबाई, विजय-नगर के राजा कृष्णराय, राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि दयानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, महात्मा गांधी। इनके आविर्भाव से साबित होता है कि ईश्वर ने हमें अब तक त्याग नहीं दिया है। हमें आशा है कि फिर हम अपने झण्डे को ऊँचा कर सकेंगे। और

नवीन सहस्राब्दी का स्वागत करते हुए हम ईश्वर से यह प्रार्थना करते हैं कि क्या काले, क्या गोरे, क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या ब्राह्मण, क्या हरिजन—मनुष्य मनुष्य के भाई हैं, यह बोध हममें सुदृढ़ हो जाय; अपने पूर्वजों के कीर्त्ति-कलाप की चिन्ता करते समय हममें हमारी अपनी अयोग्यता के कारण मन में आत्मसमीक्षा और लज्जा और साथ ही साथ हमारे दोषों को गुणों में परिवर्त्तित करने की इच्छा और चेष्टा आ जाय; दूसरे किसी देश के न्याय्य हक़ को नुकसान पहुँचाए बिना हम अपने देश भारत को स्वाधीन, समृद्ध और पृथिवी-भूषण तथा जगजीवन बना सकें।

भारतीय आर्य-भाषा में बहुभाषिता

नव्य भारतीय आर्य-भाषा के शब्द निम्नांकित वर्गों में से एक के-अन्तर्गत आते हैं—

(१) उत्तराधिकार-सूत्र से प्राप्त भारतीय आर्य (इंडो-यूरोपीय) शब्द (शब्द, धातु तथा प्रत्यय), जो प्राकृतज या तद्भव रूप में मिलते हैं।

(२) संस्कृत से उधार लिए हुए शब्द, जो तत्सम और अर्ध-तत्सम शब्द कहलाते हैं।

(३) भारतीय अनार्य शब्द, ठेठ देशी रूप, जो भारतीय आर्य-भाषा में आद्य भारतीय आर्य-काल से लेकर नव्य भारतीय आर्य-भाषा के निर्माण-काल तक प्रचलित रहा। इस श्रेणी के अंदर उन शब्दों का एक बड़ा समूह आता है, जिनकी उत्पत्ति वास्तव में इंडो-यूरोपीय नहीं है, और जिनके लिए उपयुक्त अनार्य (द्राविड़ तथा ऑस्ट्रिक) संबंधों का पता लगाया गया है।

(४) विदेशी भाषाओं के शब्द, जो आद्य भारतीय आर्य-काल से (जिसका प्रारंभ वैदिक शब्दों में कुछ मैसोपोटैमियन शब्दों के मिलने से होता है) लेकर बाद तक प्रचलित मिलते हैं। इन शब्दों में प्राचीन ईरानी, प्राचीन ग्रीक, मध्य ईरानी, एक या दो प्राचीन चीनी, नवीन ईरानी (अथवा आधुनिक फारसी, जिनमें तुर्की और अरबी भी हैं) पुर्तगाली, फ्रेंच, और अंग्रेजी गिने जाते हैं।

(५) इनके अतिरिक्त कुछ अज्ञातमूलक शब्द हैं, जो न तो भारतीय

आर्य-भाषा के हैं और न विदेशी हैं; किंतु जिनका संबंध, जहाँ तक हमें ज्ञात है, भारत की अनार्य-भाषाओं के साथ भी निश्चत रूप से नहीं जोड़ा जा सकता।

ऊपर के पाँच वर्गों में भारतीय आर्य-भाषा के सम्पूर्ण शब्द आ जाते हैं। नव्य भारतीय आर्य-भाषाओं के वे शब्द अपने या निजी हैं, जो वर्ग (१) के अन्तर्गत हैं, और भारतीय-उत्पत्ति-वाले उच्चकोटि के निजी संस्कृत-गर्भित शब्द द्वितीय वर्ग के अन्दर आते हैं। वर्ग (३), (४) और (५) के शब्द बाहरी बोलियों से लिये गये हैं, चाहे वे देशी हों या विदेशी। उत्तर-भारत के अनार्यों ने आर्य-भाषाओं को उस समय से अपनाना प्रारम्भ कर दिया था, जब आर्य-भाषा-भाषी पंजाब में बसकर अपने प्रभाव को फैला रहे थे और जब कि ब्राह्मण्य धर्म और संस्कृति की स्थिति पहली सहस्राब्दी ई० पू० के प्रथम भाग में गंगा की उपत्यका में दृढ़ हो गई थी। यह हालत आज तक जारी रही है, जब कि उत्तर भारत में अनार्य-भाषा-भाषी धीरे-धीरे आर्य-भाषाओं को अपना रहे हैं और जिसके फलस्वरूप कुछ शताब्दी में अनार्य-भाषा के सभी रूपों का लोप हो जाना अवश्यम्भावी दीख पड़ रहा है। जब पूर्व-वैदिक-काल में आर्यों और अनार्यों का सम्मिलन प्रारम्भ हो गया था तब यह अपरिहार्य था कि अनेक अनार्य शब्द तथा अनार्यों के कुछ बोलचाल के रीति-रिवाज, यदि प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष या गुप्त रूप से, आर्य-भाषाओं में मिल जायँ। आद्य तथा मध्य भारतीय आर्य-भाषाओं तथा नव्य भारतीय आर्य-भाषाओं में अनार्य शब्दों की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई। उन विदेशी भाषा-भाषियों से, जो भारत में विजेता के रूप में आकर यहीं बस गये, यहाँ के निवासियों का मेलजोल होने के कारण पारस्परिक सांस्कृतिक सम्पर्क बढ़ा, और इसके परिणाम-स्वरूप भारतीय भाषाओं में अनेक विदेशी शब्दों का प्रादुर्भाव हो गया।

जो शब्द भाषा में किसी कमी की पूर्ति करता है, वह प्राकृतिक रूप से शीघ्र ही उस भाषा का अंग बन जाता है। जहाँ पर दो भाषा-भाषियों

का सम्पर्क घनिष्ठ हो जाता है, वहाँ उस सम्पर्क के प्रभाव से एक दूसरे की भाषा के कुछ शब्दों से परिचित हो जाना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार के भाषा-सम्बधी पारस्परिक प्रभाव के आरम्भ में यह आवश्यक या अपरिहार्य है कि एक भाषा का प्रयोग करनेवालों के लिए दूसरी भाषा के शब्दों के सम्बन्ध में कुछ व्याख्या दी जाय जिससे वह उन शब्दों को भली प्रकार समझ सकें। मान लीजिये कि किसी देशी भाषा-भाषी को कोई ऐसा विदेशी शब्द समझाना है, जिसे केवल उस विदेशी शब्द के उच्चारण मात्र से वह नहीं समझ सकता, तब यह आवश्यक हो जाता है कि उस विदेशी शब्द का अनुवाद देशी-भाषा में इस प्रकार दिया जाय कि देशी भाषा-भाषी उसे समझ सकें। इस प्रकार के अनुवादमूलक-समास या समस्त-पद (Translation-compounds) सभी भाषाओं में मिलते हैं जो किसी जीवित-भाषा के सम्पर्क में आकर उनसे प्रभावित हुई हैं।

उदाहरणार्थ अंग्रेजी-भाषा को लीजिये। प्राचीन मध्य-अंग्रेजी-काल में, जब कि नार्मन-फ्रेंच तथा अंग्रेजी इङ्गलैंड में साथ-साथ बोली जाती थी, तत्कालीन लिखित साहित्य में इस प्रकार की व्याख्याएँ मिलती हैं—जैसे कि लगभग १२२५ ईस्वी में लिखी हुई पुस्तक *Ancrene Riwle* में:—*Cherite* thet is *luve* in *desperaunce* that is in *unhope* and in *unbileave* forte beon iboruwen; understondeth thet two *manere temptaciuns*—two *kunne vondunges*—beoth; *pacience* thet is *tholemodnesse*, *lecherie* thet is *golnesse*, *ignoraunce* that is *unwisdom* and *unwitenesse*; इत्यादि (देखिए—Jespersen, 'Growth and Structure of the English Language,' Oxford, 1927, p. 89).

जब इङ्गलैंड में फ्रेंच का विशेष चलन था और उसके शब्द अधिकांश

में अपनाये जा रहे थे, तब शायद उपर्युक्त रीति अधिक प्रचलित हो गई थी, जिससे बाहरी भाषाओं के उपयुक्त शब्दों को भाषाओं में चालू किया जा सके। मध्य-अंग्रेजी काल के कवि (Chaucer) चॉसर ने ऐसे दर्जनों जुमले इस्तेमाल किये हैं, जिनमें कोई भाव फ्रेंच शब्द के द्वारा प्रकट किया गया है और फिर उसी की व्याख्या और अनुवाद एक अंग्रेजी शब्द द्वारा किया गया है, या एक अंग्रेजी शब्द की पुष्टि फ्रेंच शब्द के द्वारा करा दी गई है (देखिए, जेस्परसेन, वही पृ० ९०); उदाहरणार्थ—he coude songes *make* and wel *endyte; faire* and *fetisly*; *swinken* with his handes and *laboure;* of studie took he most *cure* and most *hede; poynaunt* and *sharp; lord* and *sire* वैसे कैक्स्टन (Caxton) के ग्रंथों में—*honour* and *worship; olde* and *auncyent; advenge* and *wreke; feblest* and *wekest; good* ne *proffyt fowle* and *dishonestly; glasse* or *mirrour;* इत्यादि। अंग्रेजी में फ्रेंच शब्द बिलकुल स्वाभाविक हो गये हैं, और अब इस बात की आवश्यकता नहीं है कि इन शब्दों को समझाने के लिए अंग्रेजी में व्याख्या दी जाय।

भारतीय आर्य-भाषाओं में विदेशी शब्दों को किसी देशी या अन्य ज्ञात शब्द के द्वारा स्पष्ट करने की प्रथा मिलती है। इनमें अनेक समस्त-पद (Compounds) पाये जाते हैं, जिनमें दो शब्द होते हैं और दोनों प्रायः एक ही अर्थ के सूचक होते हैं। नव्य-भारतीय-आर्य-भाषा के अनुवाद-मूलक शब्दों में वे पद स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं, जिनमें एक शब्द विदेशी होता है, या एक ऐसा नया विदेशी-शब्द होता है, जिसकी व्याख्या एक प्राचीन या प्रचलित शब्द के द्वारा दी होती है। इस अनुवादमूलक समस्त-पदों में प्रायः बड़ी शक्ति होती है और कभी-कभी वे किसी बात को विशिष्ट रूप से प्रकट कर देते हैं। विदेशी या नये

शब्द किसी अभिप्राय के नवीन दृष्टिकोण को सूचित करते हैं। यहाँ बँगला भाषा से कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

चा-खड़ी = चाक (ब्लैकबोर्ड पर लिखने के लिए)। यह अंग्रेजी के उस *चौक्* या *चोक* शब्द का समस्त-पद है, जो पहले-पहल आमतौर पर लोगों की समझ में नहीं आता था, जिसका अंग्रेजी में उच्चारण *चाक्* तीन या चार पीढ़ियों पहले था। इसके बाद बँगला की *खड़ी* (खड़िया) शब्द मिलाने से *चाक खड़ी या चाखड़ी* हो गया।

पाउँ-रुटी (= हिन्दी पाउँ-रोटी) = पुर्तगाली pao, paon पाओ (= रोटी, उच्चारण पाउं) + बंगला रुटी, हिन्दुस्तानी *रोटी* (= चपाती) समास का पद अंग्रेजी तन्दूर की रोटी या खमीर दी हुई रोटी के अभिप्राय में आता है, जो हिन्दुस्तान में प्रचलित *चपाती* से भिन्न है।

काज-घर = बटन का छेद। casa (उच्चारण काज़्अ) = मकान + बँगला में *घर* मकान। अतः घर (बटन के लिये)।

सील-मोहर = किसी व्यक्ति की धातु की मोहर जिस पर उसका नाम या चिह्न अंकित रहता है; अंग्रेजी के *सील* + फ़ारसी के *मुहर* के योग से बना है, और बँगला में सिर्फ *मोहर* के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है।

फ़ारसी तथा भारतीय शब्दों के योग से मिले हुए शब्द काफी संख्या में मिलते हैं। यहाँ बँगला से कुछ उदाहरण देना पर्याप्त होगा। (हिन्दुस्तानी तथा भारत की अन्य भाषाओं में ऐसे या इनसे मिलते जुलते और कभी-कभी बिलकुल एक जैसे ही रूप अवश्य मिलेंगे)।

आशा-सोटा = गदा : फ़ारसी-अरबी का शब्द *असा* + हिन्दुस्तानी *सोटा* : सोटा = डंडा या गदा।

खेल-तमाशा = खेल-कूद आदि : हिन्दुस्तानी *खेल* + फ़ारसी *तमाशा*।

शाक-सब्जी = हरी तरकारी : संस्कृत शब्द *शाक* = हरी तरकारी, जड़ी-बूटी + फ़ारसी *सब्ज़ः* = हरी भाजी।

लाज-शरम या *लज्जा-सरम* : हिन्दुस्तानी *लाज* (आर्य-भाषा का

प्राकृतज शब्द) और *लज्जा* (संस्कृत) + फ़ारसी *शर्म*। दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है।

धन-दौलत = सम्पत्ति : हिन्दुस्तानी + फ़ारसी (फारसी-अरबी)।

जन्तु-जानवर = भारतीय जंतु + फ़ारसी जानवर।

राजा-बादशाह = राजा, शासक : हिन्दुस्तानी *राजा* + फ़ारसी *बादशाह*।

लोक-लश्कर = नौकर-चाकर : हिन्दुस्तानी *लोक* (लोगों का समूह) + फ़ारसी *लश्कर* (फ़ौज, दल)।

हाट-बाजार = बाजार, मेला : हिन्दुस्तानी *हाट* + फारसी *बाजार*। दोनों का एक ही अर्थ है।

झांडा-निशान = झंडा, ध्वजा : हिन्दुस्तानी *झंडा* + फ़ारसी *निशान* (= बंगला का *झांडा-निशान*, हिन्दी झंडी-निशान)।

हाड़ी मुर्दफ़राश = झाड़ू लगानेवाले, मसान या गोरस्थान में शवों के सत्कार करने वाले : हिन्दुस्तानी *हाड़ी* (मेहतरों का अछूत वर्ग) + फारसी *मुर्दा-फरोश* = मुर्दा ढोनेवाले।

लेप-काँथा = ढकने का वस्त्र, रजाई आदि : *लेप* = फ़ारसी लिहाफ़ + बँगला *काँथा* = संस्कृत कंथा (पुराने कपड़ों की सिली हुई *कथरी*)।

आदाय-उसूल = कर्ज या भाड़े का उगाहना : संस्कृत *आदाय* + फारसी-अरबी का *वसूल*।

काग़ज़-पत्र = काग़ज़ात : फ़ारसी *काग़ज़* + संस्कृत पत्र।

गोमस्ता-कर्मचारी = प्रतिभू या कर्मचारी : फ़ारसी *गुमाश्ता* + संस्कृत *कर्मचारी*।

निरीह-बेचारा = सीधा-सादा, गरीब व्यक्ति : संस्कृत *निरीह* + फ़ारसी *बेचारा*।

ऊपर के उदाहृत *अनुवाद-मूलक समस्त-पदों* के अतिरिक्त जिनमें विदेशी प्रभाव कुछ स्पष्ट है, कुछ और पद हैं जिनमें दोनों भागों में देशीपन मिलता है। उदाहरणार्थ—

पाहाड़ (पहाड़) पर्वत = देशी पाहाड़ (उत्पत्ति का मूल अज्ञात) + संस्कृत पर्वत ।

घर-बाड़ी = घर (मकान) + बाड़ी (<गृह + वाटिका <वृत—) ।

गाछ-पाला = पौदे : गाछ < गच्छ + पाला < पल्लव ।

हाँड़ी-कुँड़ी = मिट्टी के बर्तन, हाँड़ी < भाण्ड + कुण्ड ।

ऐसे उदाहरण अन्य आधुनिक आर्य-भाषाओं से बहुशः दिये जा सकते हैं । इनमें से कुछ द्वन्द्व समास सरीखे हैं जिनमें संयोग या सम्मेलन का भाव होता है । उदाहरणार्थ ।

कापड़ चोपड़ = कपड़े और डलियाँ : कापड़ < कर्पट = कपड़े, कीथड़े + चोपड़; मिलाओ चुपड़ी, चोपड़ी = डलिया ।

संभवतः पहले द्वन्द्वात्मक भावना यहाँ थी, किन्तु बहुत से स्थानों में हम शब्दों को एकार्थी होने के कारण एक-दूसरे की व्याख्या करते हुए पाते हैं । जैसे बँगला बाक्स-पेंड़ा = बकसे और पिटारे अंग्रेजी बाक्स (जिसका उच्चारण एक शताब्दी पहले बैक्स् baks था) + बंगला पेंट्रा, पेंड़ा < पेटक = हिन्दी पेटी ।

कुछ बँगला के शब्दों में देशीपन साफ झलकता है । उदाहरण के लिए बँगला पोला पान = बच्चे (पूर्वी बँगला की बोली में प्रयुक्त)—यहाँ पोला संस्कृत पोत-ल से है, और पान आस्ट्रिक शब्द प्रतीत होता है, जो संथाली (कोल) में हॉपॉन के रूप में मिलता है; पान इस शब्द का सादा रूप है । इसी प्रकार बँगला छेले-पेले का भी अर्थ लड़के-बच्चे हैं और इसकी उत्पत्ति प्राचीन बँगला छालिया-पिला से है । [छालिया या छावालिया = प्राचीन भारतीय आर्य शाब + —आल + —इक + —आक और पिला जो उसी रूप में उड़िया भाषा में प्रयुक्त होता है और जिसके माने हैं लड़का, बच्चा या जानवर का बच्चा—इसका संबंध द्राविड़ भाषा के साथ जोड़ दिया गया है (मिलाओ तामिल पिल्लै शब्द)] ।

इस प्रकार नव्य-भारतीय-आर्य-भाषा में हमें भाषा संबंधी सम्मिश्रण

का पता चलता है, जो प्रचलित भाषाओं में प्रयुक्त *मिलता* है। इस प्रकार के शब्दों—जैसे *छेले-पेले चाखड़ी, पावरोटी, राजा-बादशाह* आदि के विश्लेषण से पता चलता है कि वे अपने समस्त-पद मूलक शब्द हैं और वे अपने रूप को कायम रखते हुए भी एक मामूली बात को ही सूचित करते हैं। यह भी ज्ञात होता है कि किस प्रकार विभिन्न भाषाओं के शब्दों ने मिलकर नव्य-भारतीय-आर्य-भाषा के निर्माण में योग दिया है। भारतीय प्राकृत तथा संस्कृत से आये हुए शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ हम यहाँ 'देशी' या अनार्य भाषाओं के तथा फ़ारसी, अरबी, पुर्तगाली और अंग्रेजी के भी शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग पाते हैं। इन शब्दों से इस बात का स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि नव्य-भारतीय-आर्य-काल में भारतीय लोगों में बहुभाषिता प्रचलित हो गई थी।

जब हम मध्य-भारतीय आर्य तथा आद्य-भारतीय आर्य-भाषाओं में जिनका साहित्य अनेक प्रकार की प्राकृतों तथा संस्कृत में है, उपर्युक्त बात का पता लगाते हैं तो उनमें भी वही स्थिति पाई जाती है। इस समय थोड़े ही प्राकृत और संस्कृत शब्दों की बाबत हमें मालूम है, जिनसे पता चलता है कि १५००, २००० या २५०० वर्ष पहले भी भारत में न केवल भारतीय आर्य-भाषाएँ ही प्रचलित थीं, अपितु अनार्य बोलियाँ तथा विदेशी बोलियाँ भी बोली जाती थीं, जो बहुत ही चालू हालत में थीं, और जिनका भारतीय आर्य-भाषा पर व्यापक प्रभाव पड़ा था। हम यहाँ कुछ ऐसे संस्कृत और प्राकृत शब्दों पर विचार करेंगे, जो वास्तव में अनुवादमूलक समस्तपद हैं।

(१) संस्कृत : *कार्षापण*=पाली *कहापन*, प्राकृत *कहावण*, बँगला *काहन* : 'एक प्रकार का बाँट', 'एक कार्ष की तोल का सिक्का'। यह शब्द दो शब्दों के योग से बना है—*कार्ष* तथा *पण*। पहले शब्द का मूल कर्ष है, जिसका अर्थ है एक नाप या तोल। मालूम होता है कि कर्ष शब्द हखामनी (Achaemenian) ईरान का है, जिस देश का प्राचीन भारत की राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था पर काफी प्रभाव पड़ा था।

पण शब्द को डा० प्रबोधचंद्र बागची ने संख्यासूचक शब्द माना है और इसकी उत्पत्ति ऑस्ट्रिक (कोल) भाषा से मानी है। इस प्रकार *कार्षापण* शब्द एक व्याख्यात्मक समास-पद है, जिसमें प्राचीन ईरानी भाषा तथा आर्य-भाषा-प्रभावित ऑस्ट्रिक का सम्मिलित रूप दृष्टिगोचर है।

(२) शालि होत्र—यह दूसरा मनोरंजक शब्द है, जो संस्कृत से मिलता है। 'यह शब्द प्राचीन काव्य में *अश्व* का द्योतक है', ऐसा मानियर विलियम्स (Monier-Williams) ने अपने संस्कृत अभिधान में लिखा है। पुराने ढंग के विद्वानों ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है कि घोड़े का *शालि-होत्र* नाम इस कारण है कि उसे *शालि* (धान) *भोजन* (होत्र) के लिए अर्पित किया जाता है। अश्व को *शालि-होत्रिन्* भी कहा जाता है। पालतू जानवरों की बीमारियों के संबंध में एक ऋषि ने ग्रंथ लिखा था, उन ऋषि का नाम भी *शालिहोत्र* मिलता है। इस अर्थ में यह शब्द भारतीय सेना में अब भी चालू है, जिसमें घुड़सवार सेना के घोड़ों का चिकित्सक *सोलत्री* कहलाता है। हिन्दुस्तानी में यह शब्द *शालोतरी* या *सालोतरी* लिखा जाता है। शालिहोत्र शब्द द्वन्द्व है, और इसके दोनों शब्द भिन्न-भिन्न बोलियों के होते हुए भी एक ही अर्थ के सूचक हैं। संस्कृत शब्द *शालि* का, जिसका अर्थ *चावल* है, मूल दूसरा है। यहाँ *शाल-होत्र* का *शालि* शब्द निसन्देह वही है, जो हमें *शालि-वाहन* में मिलता है। *शालि* का दूसरा पाठ *सात* *(सातवाहन)* में भी मिलता है। ज्यां प्शेलुस्कि (Jean Przyluski) ने यह सिद्ध किया है कि *शालि* या *सात* शब्द प्राचीन कोल (आस्ट्रिक) का शब्द है, जिसका प्रयोग *घोड़े* के अर्थ में होता है (संथाली भाषा में इसे *साद-ओम्* , *सादोम* बोला जाता है)। प्राचीन भारत की चालू बोलियों में साद या *सादि* (= घोड़ा) के प्रयुक्त होने का प्रमाण संस्कृत शब्द *साद* '(घोड़े की पीठ पर) बैठना या चढ़ना' में मिलता है। इसके

१—देखिये J R S A., १९२९, पृ० २७३

अन्य रूप *सादि, सादिन्, सादित्* (मिलाओ *अश्व-सादि* = घोड़े पर चढ़ने वाला) भी मिलते हैं। यही शब्द निस्संदेह *शालि-वाहन, सातवाहन* तथा *शालिहोत्र* के साथ जुड़ा हुआ है। अतः यह स्पष्ट है कि *शालि* शब्द, जिसका अर्थ *अश्व* है, मूलतः ऑस्ट्रिक भाषा का शब्द है। *होत्री, होत्र* शब्द का अर्थ भी सम्भवतः यही होगा। यह शायद ऐसा शब्द है, जिसे हम द्राविड़ों के साथ संबंधित कर सकते हैं। घोड़े के लिए इंदो-यूरोपीय शब्द जो संस्कृत में मिलता है, वह *अश्व* ही है। बाद में *अश्व* के लिए *घोट* शब्द भी प्रयुक्त होने लगा, जिसका मूल अज्ञात है।

भारत के उत्तर-पश्चिम सीमान्त की पिशाच या दरद भाषाओं में एक या दो को छोड़कर भारत में *अश्व* शब्द का प्रयोग अन्यत्र नहीं पाया जाता। *घोट* तथा उससे निकले हुए अन्य शब्द, जो *अश्व* के लिए प्रयुक्त होते हैं भारतीय आर्य तथा द्राविड़ भाषाओं में पाये जाते हैं। *घोट* शब्द मूलतः प्राकृत का मालूम होता है। इसके प्राचीन रूप *घुत्र* और *घोत्र* थे। इन रूपों से द्राविड़ भाषा के अश्व-वाचक शब्द काफी मिलते-जुलते हैं। उदाहरणार्थ, तामिल *कुतिरै*, कन्नड़ *कुदुरे* तेलगु '*गुर्र-मु*'। घुत्र, *घोट* तथा *कुतिरैं* शब्दों का मूल अनिश्चित है; पर ये काफी प्राचीन शब्द हैं और इनका प्रचलन पश्चिम-एशिया में बहुत अधिक है। घोड़े के लिए प्राचीन मिस्री (Egyptian) भाषा का एक शब्द, जो निस्संदेह एशिया (एशिया-माइनर या मेसोपोटैमिया से आया है *हतर* (htr) है, जो घुत्र का एक दूसरा रूप प्रतीत होता है। गधे के लिए आधुनिक ग्रीक शब्द *गदैरोस्* (gadairos) तथा खच्चर के लिए तुर्की शब्द *कातिर* (Katyr) *घुत्र-हतर* शब्द से ही सम्बन्धित जान पड़ते हैं। इस स्थान पर हम इस शब्द को भारत से बाहर का (एशिया माइनर का ?) यानी अनार्य भाषा का कह सकते हैं, जिसे सम्भवतः द्राविड़ लोग यहाँ लाये। हो सकता है कि यह असली द्राविड़ शब्द है और यह भी विचारणीय है कि स्वयं द्राविड़ शब्दों की मूल उत्पत्ति शायद भूमध्यसागर के आसपास क्रीट द्वीप से हुई। *शालिहोत्र* शब्द के दूसरे पद में *घोट* का

प्राचीन रूप *घोत्र* का विकार *होत्र* भी दिखाई पड़ता है। *शालिहोत्र* = अश्व = घोड़े के लिये ऑस्ट्रिक शब्द *साद* + उसका सामानार्थी द्राविड़ शब्द *घोत्र*। इस दशा में *अश्व-सादि* शब्द आर्य तथा ऑस्ट्रिक भाषाओं का सम्मिलित अनुवादमूल समस्त-पद होगा।

(३) पिछले संस्कृत-साहित्य में *पालकाप्य* मुनि का नाम हाथियों को शिक्षित करने के सम्बन्ध में लिखे हुए ग्रंथ के प्रणेता के रूप में आता है। उसके सम्बन्ध में कुछ कथाएँ भी मिलती हैं, जिनसे पता चलता है कि वे अंग्रेजी औपन्यासिक रुडियर्ड किपलिंग द्वारा वर्णित एक प्रकार के *माव्ग्ली* थे; माव्ग्ली ऐसा लड़का था जो बचपन से लक्कड़बघ्घों के द्वारा पालित हुआ था, और *पालकाप्य* का भी हाथियों द्वारा पालन हुआ था, और वे हाथियों के बीच में रहा करते थे। *पालकाप्य* नाम की व्याख्या इस प्रकार दी गई है कि *पाल* वैयक्तिक नाम है और *काप्य* गोत्र का नाम है। *काप्य* की उत्पत्ति *कपि* से हुई है, जिसका संस्कृत में प्रायः बन्दर के लिए प्रयोग होता है। परन्तु जान पड़ता है कि *पालकाप्य* एक अनुवादमूलक समस्त पद है, जो बिल्कुल *शालि-होत्र* शब्द के ही समान बना है। *पालकाप्य* के दोनों शब्द दो भिन्न भाषाओं से लिये गये हैं और प्रत्येक शब्द हाथी के लिए प्रयुक्त हुआ है, और जिस प्रकार *शालिहोत्र* शब्द वैयक्तिक नाम का सूचक है, उसी प्रकार *पाल-काप्य* संज्ञा एक ऐसे ऋषि की दी हुई है, जो हाथी के पालन आदि के सम्बन्ध में अच्छे ज्ञानी और अधिकारी लेखक समझे जाते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि *शालि-होत्र* और *पाल-काप्य* जैसे साधारण शब्द भी किस प्रकार व्यक्ति-विशेष के सूचक शब्द बन सकते हैं। द्राविड़ भाषाओं में *पाल* शब्द हाथी और हाथी-दाँत का सूचक है। इनमें इस शब्द के अनेक रूप मिलते हैं।[1]

१—इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए देखिए—जे. प्रिजीलुस्की, नोट्स इन्डीन्स, जर्नल एसियाटिक्, १९२५, पृष्ठ ४६-४७ तथा श्री प्रबोधचन्द्र बागची का इन्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, १९३३ पृ० २५८ में प्रबन्ध।

इस बारे में एक बात और जान लेनी है कि *पाल-काप्य* ऋषि का एक अन्य नाम *करेणु-भू* (= हथिनी का पुत्र) भी मिलता है, जिससे पता चलता है कि ऋषि के नाम का कुछ सम्बन्ध हाथियों से अवश्य है। *काप्य* शब्द की व्युत्पत्ति श्री प्रबोधचंद्र बागची ने अपने लेख में दी है और उन्होंने साफ दिखा दिया है कि *कपि* शब्द हाथी का भी सूचक है, कम-से कम हाथी के समानार्थक शब्द के रूप में उसका प्रयोग मिलता है। डा० बागची ने *गज-पिप्पली* शब्द के लिए *करि-पिप्पली*, *इभ-कणा*, *कपिवल्ली* तथा *कपिल्लिका* आदि अनेक सामानवाची शब्द दिये हैं, जिनमें *गज*, *करि*, *इभ* तथा *कपि* शब्द निस्संदेह एक ही अर्थ के बोधक हैं। जंगली कैथा का एक नाम कपित्थ (मिलाओ अश्वत्थ = पीपल) पाया जाता है। इस फल को हाथी बड़े शौक से खाते हैं और संस्कृत में एक लोकोक्ति है—*गज-भुक्त कपित्थवत्* (= एक ऐसे कपित्थ के समान, जिसे हाथी ने खाया हो। यह कहा जाता है कि जब हाथी कपित्थ फल को निगल लेता है तब उस फल का ऊपरी कड़ा गोला वैसे-का-वैसा ही बना रहता है और फल का गूदा हाथी के पेट में चला जाता है। इस प्रकार फल का ऊपरी ढक्कन ही बाहर रह जाता है।) क्या इस बात से हम यह कह सकते हैं कि *कपित्थ* का *कपि* शब्द भी हाथी का सूचक है? इस बात की पुष्टि इससे भी होती है कि कुछ पश्चिमी एशियाई तथा आसपास के देशों की भाषाओं—उदाहरणार्थ हिब्रू तथा प्राचीन मिस्री (Egyptian)—में एक समानवाची शब्द हाथी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। हिब्रू में हाथीदाँत के लिए *शन्-हब्बीम्* (Shen-habbim) शब्द है। *शेन* का अर्थ 'दाँत' और *हब्बीम* का अर्थ 'हाथी' है : यह शब्द *हब्* और *हब्ब्* बन जायगा। प्राचीन मिस्री भाषा में हाथी के लिए *हब्* या *हब्ब्* शब्द है। हिब्रू तथा मिस्री शब्दों—*हब्ब्* और *हब्* की तुलना *कपि* शब्द से की जा सकती है। *कपि* = हब् शब्द का मूल अज्ञात है। सम्भवतः यह उसी प्रकार का है, जैसे *घोट-घुत्र-कुतिरै-हुत्र्-गदैरास्-कातिर* शब्द। मेरा यह अनुमान है कि *पाल-काप्य* द्राविड़ तथा

भारत-बहिर्भूत और किसी अनार्य भाषा के दो पदों से मिलकर बना हुआ एक *अनुवाद-मूलक समस्त-पद* है, असंगत न ठहरेगा।

(४) गोपथ ब्राह्मण में *दन्तवाल धौम्र* नामक एक ऋषि का उल्लेख है, जो जन्मेजय के समकालीन थे। यह नाम *दन्ताल धौम्य* से भिन्न है, जो जैमिनीय ब्राह्मण में जनक विदेह के समकालीन कहा गया है।[1] *धौम्र* अपत्य नाम है; पर *दन्तवाल* शब्द का, जो कि एक वैयक्तिक नाम है, क्या अर्थ हो सकता है? क्या यह *दन्त-पाल* के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो दूसरा *दन्ताल* नाम है? उसका अर्थ 'लंबे या बड़े दाँतों वाला' हो सकता है। पर *वाल* < *पाल* प्रत्यय ('जो रखने वाला' या 'पालने वाला के अर्थ को सूचित करता है) भारतीय आर्य-भाषा के इतिहास में अपभ्रंश वाली स्थिति के पहले नहीं पाया जाता। अतः वह बहुत प्राचीन नहीं है। मेरा अनुमान है कि *दन्त-वाल* शब्द *दन्त-पाल* के लिए ही प्रयुक्त हुआ है और आर्य तथा द्राविड़ भाषाओं में एक-एक पद से मिल कर बना हुआ समस्त-पद है, जिसका अर्थ *हाथी* या *हाथी का दाँत* है। इसमें *दंत* संस्कृत शब्द है, और *पाल* द्राविड़।

(५) भारतीय इतिहास के शक-काल में अनेक शक (तथा अन्य ईरानी) नाम और विरुद शकों के द्वारा भारत में लाये गये। एक ऐसा ही नाम *मुरुण्ड* है, जिसका अर्थ शक-भाषा में *राजा* है। भारतीय शकों के अभिलेखों में *मुरुण्ड-स्वामिनी* शब्द मिलता है, जो उपर्युक्त समानार्थक समास-पद का एक उदाहरण है।

(६) इसी प्रकार कुछ अन्य शब्द भी विचारणीय हैं; परन्तु अभी तक उन शब्दों की उत्पत्ति तथा उनके तुलनात्मक विचार के सम्बन्ध में विद्वानों का ध्यान नहीं गया। प्राग्ज्योतिष के राजा वैद्यदेव (११वीं शती के उत्तरभाग) के कमौली से मिले हुए ताम्र-पत्र में *जउगल्ल* नामक एक

१—डा० हेमचंद्रराय चौधरी का मैं कृतज्ञ हूं जिन्होंने मेरा ध्यान इन नामों की ओर आकर्षित किया है।

प्राचीन अर्धतत्सम रूप रीछ है)। *भल्ल* नव्य-भारतीय-आर्य-भाषाओं के भल्लक वाचक कुछ शब्दों का मूल रूप है, जिससे *भालू* (हिंदुस्तानी) तथा *भालुक*, *भाल्लुक* (बंगाला) शब्द बने, जिनका अर्थ 'रीछ' है। कुछ लोगों ने *भल्ल* को आद्य भारतीय आर्य-भाषा के *भद्र* शब्द का रूप माना है। ऐसा मानने पर *अच्छ-भल्ल* का अर्थ अच्छा या सीधा *'भालू'* होगा। वह भी असम्भव नहीं, क्योंकि प्रायः बुरे या भयंकर जानवरों का केवल नाम लेना प्रशस्त नहीं समझा जाता (इस प्रकार के जानवरों का नाम लेने से यह माना जाता है कि वह जानवर निकट आ जायगा)। इसी विचार के आधार पर शायद रीछ का नाम *भल्ल*='अच्छा या सीधा जानवर' रक्खा गया, और धीरे-धीरे यही नाम उस जानवर का हो गया। ऐसी ही बात रूसी भाषा में है, जिसमें रीछ को *मैद्वेद्* ('मधु खाने वाला', मिलाओ सं० *मध्वद्*) कहते हैं। इस बात का अनुसंधान कि *भल्ल* शब्द का सम्बन्ध भारतीय आर्य-भाषाओं के बाहर किसी भाषा में मिलता है या नहीं, शायद मनोरंजक सिद्ध होगा।

(१०) संस्कृत के शब्द *कञ्चूल*, *कञ्चूलिका* (=कंचुकी, जाकट) *चोलिका* शब्द से मिलाये जा सकते हैं, जिसका भी अर्थ वही है। ये शब्द भारत की आधुनिक प्रचलित भाषाओं में भी मिलते हैं। *कञ्चूल* या *कञ्चुकी* पहले पहल 'स्तनों के ऊपर बाँधे जाने वाले वस्त्र' के सूचक थे। *चोलिका पट्ट* का अर्थ 'मध्य भाग के लिए प्रयुक्त वस्त्र' है। *कञ्चूल*, *कञ्चूलिका—कन्* + *चोलिका* इन दो शब्दों से मिल कर बने हुए जान पड़ते हैं। *कन्* ऑस्ट्रिक शब्द है जिसका बँगला का रूप *कानि* = 'चीथड़ा' है (मिलाओ, मलायन शब्द, *काइन्* = (Kain) कपड़ा)। *चोल* शब्द *चेल* (=वस्त्र) से संबन्धित हो सकता है। *चेल* शब्द की उत्पत्ति अज्ञात है।

(११) *कायस्थ-प्रभु*—महाराष्ट्र में यह एक जाति का नाम है। कायस्थ प्राचीन काल में लेखकों के वर्ग का नाम था, राष्ट्र के कुछ अन्य दीवानी अफसर भी इसी जाति के होते थे, परन्तु *कायस्थ* शब्द की

उत्पत्ति कैसे हुई, यह अज्ञात है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह शब्द मूलतः ईरानी है, प्राचीन फारसी में राजा के लिए *खषायथिय* (Khshayathiya) शब्द मिलता है। इससे प्राचीन प्राकृत का रूप *खायथिय* बना होगा, जिससे *कायत्थ* बन सकता है, और उससे संस्कृत रूप *कायस्थ* बन गया होगा। एक केंद्रित शासन में छोटे अफसरों, क्लर्कों तथा मंत्रियों आदि के लिए सम्मानार्थ प्रयुक्त कायस्थ शब्द सम्भवतः उस काल की ओर संकेत करता है, जब उत्तर-पश्चिम भारत में ईरानी सभ्यता की प्रभुता थी। अतः महाराष्ट्र में प्रचलित कायस्थ-प्रभु शब्द *मुरुंड-स्वामिनी* शब्द की तरह (ऊपर नं० ४), एक अनुवाद-मूलक समस्त-पद सिद्ध होगा।

(१२) संस्कृत का *गौर* शब्द एक प्रकार की भैंस के लिए प्रयुक्त होता है। *गौर* का शाब्दिक अर्थ 'सफेद' है। किन्तु भैंस काली होती है, और उसके साथ इस विशेषण को सम्बद्ध करना असङ्गत प्रतीत होता है। *गवय*, *गवल* तथा *गोण* अन्य संस्कृत नाम हैं, जो भैंस और बैल के लिए प्रयुक्त होते हैं। इनकी उत्पत्ति *गौ* या *गव्* से हुई है। हो सकता है कि *गौर* एक अनुवादमूलक समस्त पद है, जो आर्य-भाषा के *गौ*, *गो* तथा ऑस्ट्रिक (कोल) के *उर* (= जानवर) शब्दों से मिलकर बना है। संथाली और मुंडारी भाषाओं में *उरि* शब्द गाय और भैंस के लिए प्रयुक्त होता है।

(१३) संस्कृत *तुंडि-चेल* = 'एक प्रकार का वस्त्र'। ऐसे वस्त्र का उल्लेख बौद्ध ग्रंथ 'दिव्यावदान' में मिलता है। *चेल* आर्य-भाषा का शब्द है, जिसका सम्बन्ध *चीर* शब्द से है, जो उसी धातु से निकला है, जिससे हिन्दी का *चीरना* और बँगला का *चिरा*। इस प्रकार *चीर*, *चेल* का अभिप्राय 'वस्त्र के टुकड़े से है। *तुंडि-चेल* के पहले पद का मूल रूप द्राविड़ भाषाओं में मिलता है (तामिल *तुंटु* या *तुंडु*, कन्नड़ *तुंडु*, तेलगु = *तुंट* = 'टुकड़ा, कपड़े का एक छोटा टुकड़ा, तौलिया')।

(१४) संस्कृत *मुसार-गल्व* = 'एक किस्म का मूंगा, एक प्रकार का

चमकीला कीमती पत्थर है।' मैंने अन्यत्र *मुसार* शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में लिखा है। मेरे मत से यह शब्द प्राचीन चीनी भाषा से भारत में आया है, जिसमें कीमती या मामूली पत्थर के लिए *म्वा-सार* (mwa-sar) शब्द आता है। प्राचीन चीनी भाषा में इस शब्द का सम्बन्ध फारसी और अरबी के *बुस्सद* और *बिस्सद* (bissad, bussad) (= मूंगा) शब्दों से जान पड़ता है।

[आधुनिक चीनी में इसका उच्चारण है मू-सा (mu-sa) प्राचीन चीनी में इस का उच्चारण था *म्वा-सार* (mwa-sar) और *ब्वा-साध्* (bwa-sadh)]। दूसरा पद *गल्व*, जिसका रूप *गल्ल* भी मिलता है, मेरे विचार से पत्थर के लिए साधारणतः प्रयुक्त द्राविड़ शब्द है। तामिल में इसका रूप *कल्*, तेलगु में *कल्लु* और ब्राहुई में *खल्* मिलता है। सिंहली भाषा में *गल्ल* शब्द आता है, जो द्राविड़ भाषा के *गल* या *गल्ल* से लिया गया है। इस प्रकार *मुसार-गल्ल* शब्द चीनी तथा द्राविड़ भाषाओं का सम्मिलित अनुवाद-मूलक रूप है, जिसे प्राचीन भारत में पहले प्राकृतों में और फिर संस्कृत में अपना लिया गया है।

यद्यपि स्पष्ट तथा भलीभाँति प्रमाणित उदाहरणों की संख्या बहुत नहीं है, तो भी आद्य भारतीय आर्य (संस्कृत) तथा मध्य भारतीय आर्य (प्राकृत) भाषाओं के जिन थोड़े से शब्दों का विवेचन ऊपर किया गया है, उससे हम इस उपपत्ति पर पहुंच सकते हैं कि *प्राचीन भारत में विभिन्न भाषाओं के बीच आदान-प्रदान जारी था*। अनार्य बोलियाँ भी प्रचलित थीं और उनकी शक्ति दो सहस्र वर्ष पूर्व तथा उसके बाद तक बहुत प्रबल थी और भारतीय आर्य-भाषाओं के ब्राह्मण्य, जैन तथा बौद्ध धर्म-सम्बन्धी साहित्य में उनका प्रभाव दृष्टिगोचर है। इस ओर अभी तक विद्वानों का ध्यान नहीं गया है। अनार्य भाषाओं से अनेक शब्दों और नामों का भारतीय आर्य-भाषाओं में आना जारी था। पीछे जब कि अनार्य भाषाओं का लोप हो गया, तब साथ ही उनके महत्त्व का भी अंत हुआ, सिवा

इसके कि कहीं-कहीं भूले-भटके उनका अस्तित्व अब भी मिल जाता है। विदेशी भाषाएँ—ग्रीक, प्राचीन फारसी और अन्य अनेक ईरानी भाषाएँ—लोग बड़ी संख्या में बोलते थे और उनका प्रचलन बहुत विस्तृत था। इन भाषाओं से भी भारतीय आर्य-भाषाओं में शब्द लिए जा रहे थे। निस्संदेह ऐसे शब्दों की संख्या तत्कालीन प्रचलित प्रान्तीय भाषाओं में उन शब्दों से कहीं अधिक थी, जिन्हें हम वर्त्तमान परिस्थिति में संस्कृत तथा साहित्यिक प्राकृतों में पा रहे हैं। वास्तव में, प्राचीन भारत में प्रचलित भाषाओं के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है, जैसी इस समय है। केवल उस समय अनार्य-भाषाओं का क्षेत्र आजकल की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक था। जैसा कि आर्यावर्त में हम आज पाते हैं, संभवतः प्राचीन काल में भी जनता के अधिकांश भाग में अनार्य-भाषाओं (द्राविड़ तथा ऑस्ट्रिक) का प्रभाव आर्य-भाषाओं की अपेक्षा कहीं अधिक था। वस्तुतः दो सहस्र वर्ष पूर्व तथा उससे भी पहले भारत में बहुभाषिता का प्रचलन लगभग उतना ही था, जितना कि वर्तमान भारत में है।

कविवर तानसेन

संगीतकार तानसेन के नाम से भारतवर्ष के सब लोग परिचित हैं। परन्तु तानसेन केवल एक युगावतार संगीत-रचयिता और गायक ही नहीं थे, वह एक उच्चश्रेणी के कवि थे, यह उनके रचित ध्रुपद गानों की वाणी या शब्दों से पूर्णतया प्रतीत होता है। विभिन्न राग-रागिनियों में उन्होंने जो गीत रचे हैं, वे उनकी अतुलनीय कवित्व-शक्ति के परिचायक हैं।

भारत के कलावंतों में प्रचलित संगीत-रीति ने ही इस देश की प्राचीन अर्थात् मुख्यतः मुसलमान-पूर्व युग की संगीत पद्धति की शैली की रक्षा की है। भारत के क्लासिकल अर्थात् उच्चकोटि के संगीत के रूप में स्वीकृत होकर, उसके सांस्कृतिक जीवन में इस कलावंत-संगीत ने ही अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। भारतवर्ष का कलावंत-संगीत दो मुख्य विभाग या रूपों में मिलता है—एक हिन्दुस्तानी या उत्तर-भारतीय और दूसरी कर्णाटकी या दक्षिणी-भारतीय। बीती हुई कई सदियों के इतिहास में उत्तर भारतीय ढंग के संगीत में तानसेन और दक्षिण भारतीय चाल के संगीत में त्यागराय (जो कि आन्ध्र या तेलगू भाषी थे और श्रीरामचंद्रजी के भक्त थे और जिन्होंने ईस्वी सन् १८४७ में देह त्याग किया था)—इन दोनों के नाम सर्वप्रधान हैं। इन दोनों संगीतपद्धतियों की जाति एक होते हुए भी हिन्दुस्थानी और कर्णाटकी संगीतों में कुछ पार्थक्य है। साधारणतया लोगों का विचार

है कि कर्णाटकी संगीत ही शुद्धतर है क्योंकि इसमें भारत के बाहर से आये हुए विदेशी मुसलमान अर्थात् ईरानी और तुर्की उपादान प्रवेश नहीं कर सके; पर हिन्दुस्थानी संगीत में ईरान, तुर्किस्तान, ईराक तथा अरब-स्थान से आई हुई वस्तुएँ कुछ न कुछ मिल गई हैं और इससे इसकी विशुद्धि नष्ट हो गई है। परंतु उत्तर भारत के ध्रुपद संगीत पर बाहर का प्रभाव उतना नहीं आने पाया, यह भी एक रूप से प्रायः सभी ने मान लिया है। प्राचीन हिन्दू संगीत का विशिष्ट रूप या ढंग हमारे ध्रुपद में ही ज्यादातर अविकृत रहा है। तम्बूरा, पखावज और बीन की संगत से गाये हुए ध्रुपद के गीत से, हजार साल के या उससे भी अधिक पुराने काल के हिन्दू गाने का कुछ आभास हमें मिलता है। ख्याल, टप्पा, ठुमरी—ये सब तो बाद वाले युगों की सृष्टि हैं, जो मुसलमान बादशाहों के दरबारों में ध्रुपद ही के आधार पर बनाई गईं। इनमें भारत के विभिन्न प्रान्तों के तथा भारत के बाहर के देशों के संगीत की कुछ विशिष्टताएँ आ गई हैं। केवल विशुद्ध ध्रुपद की सीधी, सबल और विराट् महिमा की तुलना भारतीय-संगीत में और कहीं नहीं मिलेगी और ऐसी चीज दूसरे देशों के संगीत में भी विरल है।

आजकल जो ध्रुपद हम सुनते हैं, उसकी जड़ हिन्दू-युग तक पहुँचती है, यह तो सच है। पर यह मुख्यतया ईस्वी पन्द्रहवीं से सतरहवीं शताब्दी की वस्तु है। भारतवर्ष की आर्यभाषा में तथा भारत के शिल्प में जिस प्रकार का विकास अथवा क्रम-विवर्तन हमें दीख पड़ता है, उसी प्रकार का विकास भारत के संगीत के इतिहास में भी अपेक्षित है, ऐसा सोचना अनुचित नहीं होगा। पहले आदि आर्यभाषा या "संस्कृत" फिर उसके विचार से मध्य आर्य या "प्राकृत" उसके बाद, प्राकृत के परिवर्तन से नव्य आर्य या "भाषा"—इस क्रम के अनुसार भारतीय आर्यभाषा की परिणति हुई है। शिल्प के इतिहास में हम इस प्रकार देखते हैं। बुद्ध के पूर्वकाल के लुप्त भारतीय मिश्र

आर्यानार्य शिल्प में प्राचीन भारत के शिल्प की प्रतिष्ठा या स्थापना हुई थी। उस शिल्प ने, मौर्य तथा सुंग युग के भास्कर्य-शिल्प में, विशिष्ट भारतीय या हिन्दू-शिल्प के रूप में, ईसा के पूर्व कई सदियों में आत्मप्रकाश किया था। तदनंतर, कुषाण और आंध्र युगों के शिल्प के माध्यम से इस प्राचीन-हिन्दू-शिल्प की धारा प्रवाहित एवं पुष्ट हुई थी और गुप्त सम्राटों के काल के और उनके समय के पीछे की कई सदियों के प्रौढ़ हिन्दू-शिल्प में इसकी चरम उन्नति हुई थी। उसके बाद, परवर्ती युगों के जटिलतामय रूपों में हिन्दू-शिल्प का आंशिक अवनमन हुआ था। संगीत के संबंध में भी ऐसा क्रम या ऐसी धारा हम अनुमान कर सकते हैं। परन्तु शुद्ध हिन्दू संगीत की इस धारा की अवस्था से, जो कि आज के ध्रुपद में पाई जाती है, प्राचीनतर किसी अवस्था का कोई निदर्शन संरक्षित नहीं हुआ। भारतीय आर्यभाषा के इतिहास में यदि प्राचीन हिन्दी अथवा अपभ्रंश से प्राचीनतर प्राकृत और संस्कृत आदि और कोई निदर्शन नहीं मिलते तो भारतीय संगीत के इतिहास से उसकी समता दिखाई देती। ध्रुपद को निम्न-मध्य-युग के हिन्दू-शिल्प के साथ हम संतुलित कर सकते हैं; किन्तु ध्रुपद का पूर्व रूप, जिसे हम ऊर्ध्व-मध्य गुप्त और कुषाण युगों के शिल्प के साथ बराबरी रखनेवाला समझ सकते हैं, विलुप्त हो गया है।

जो कुछ हो, शंकरानंद सरवरिया, रघुनन्दन व्यास, गोपाल नायक, अमीर खुसरो, विवेक स्वामी, सदानंद व्यास, सूरदास, रामदास स्वामी, बैजू बावरा, मुहम्मद गौस, हरिदास स्वामी, तानसेन, सदारंग, शोरी मियाँ इत्यादि संगीतकार और गायकों के हम चिर-कृतज्ञ रहेंगे। क्योंकि प्राचीन भारतीय-संगीत के संरक्षण तथा इसके युगानुसारी विवर्तन में इन्होंने बहुत कुछ किया था। बहुत-सी नई-नई वस्तुएँ भी इनके द्वारा आई हैं। कहते हैं कि ख्याल अमीर खुसरो का सर्जन है। स्वयं तानसेन ने भी कुछ प्राचीन रंगों के नये रूप दिये हैं, जैसे मल्हार राग का एक नया रूप उनके नाम के अनुसार "मियाँ-की-मल्हार" नाम से परिचित है,

और "दरबारी कानड़ा" नाम का नया राग उन्हीं की सृष्टि है। परंतु ज्यादातर ये संरक्षक ही थे। यदि इनमें प्राचीन-संगीत पर गंभीर अनुराग और प्राचीन रीति को विशुद्ध और अविकृत रखने का प्रयास न रहता तो हमारे प्राचीन हिन्दू युग का या मध्ययुग का संगीत जहाँ तक रक्षित हुआ है, न हो सकता।

इस प्रसंग में यह बताया जा सकता है कि ध्रुपद संगीत प्राचीन का केवल अविमिश्र रूप से संरक्षण या अंध अनुकरण मात्र न था। ऐसा अगर होता तो ध्रुपद इतने दिनों तक इस प्रकार जीवित न रह सकता। अब तक ऐसे बहुत लोग हैं जो कि ध्रुपद से आनंद उठाते हैं और ये लोग सब के सब केवल पेशेवर उस्ताद या शिक्षित कलावंत नहीं होते हैं, इनमें बहुत से मामूली संगीत रसिक भी होते हैं। आमतौर पर जनता में "कलावंत गाना" आजकल इतनी दिलचस्पी नहीं ला सकता। यह तो सच है पर इसकी चर्चा और इसकी उपयुक्त मर्यादा शिक्षित समाज में घटती तो है नहीं (हम बंगाल की बात कह रहे हैं)। ध्रुपद संगीत में अभी नया सर्जन हो सकता है, होता भी है, उसके उदाहरण-स्वरूप कुछ साल पूर्व बंगाल के विष्णुपुर के विख्यात संगीतकार घराने के गायक संगीतरत्नाकर श्री सुरेन्द्र जी वंद्योपाध्याय ने महात्मा गांधी जी के किसी उपवास के उपलक्ष में "राग गांधी" नाम से जो एक बड़ा सुन्दर सुर बनाया था, उसका उल्लेख किया जा सकता है। यह "राग गाँधी" और उसकी आनुषंगिक ब्रजभाषा में लिखित वाणी सन् १९३२ के दिसम्बर के "विशालभारत" में छप चुकी है। ऐसी नई रचना के द्वारा और कुछ न हो, सिर्फ इतना तो सिद्ध होता है कि ध्रुपद संगीत एकदम मर नहीं गया। मृत या अप्रचलित कहकर ध्रुपद के आदर या ध्रुपद की चर्चा को मिटा देना—मृत भाषा कहकर संस्कृत पाली प्राकृत या ग्रीक लैटिन का अनादर करना या इनकी चर्चा को एकदम बंद करना इन्हें सीमित कर देना होगा।

सौभाग्य से सम्राट् अकबर से तानसेन का संयोग हुआ था, इस

कारण तानसेन की जीवनी या इनके कलाकार जीवन के दो-चार बातों के सम्बंध में हमें कुछ सूचनाएँ मिलती हैं। अकबर और जहाँगीर के समय की चित्रावलियों में तानसेन की प्रतिकृति भी खींची गई थी। जहाँगीर के समय में बने हुए तानसेन के चित्र मिलते हैं। ऐसे एक चित्र पर तानसेन की मूर्ति के बगल में फारसी अक्षरों में उनका नाम भी लिख दिया गया है। तानसेन क़द में छोटे थे। रंग उनका गोरा नहीं था, बिल्कुल काला या सावँला था; होंठ पर पतली मूछें भी थीं और एक दूसरे चित्र में तख्त पर बैठे हुए जहाँगीर के सामने तानसेन खड़े हैं। जिस समय जहाँगीर युवराज थे यह उसी समय का चित्र मालूम होता है। जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में तानसेन के गुणों की तारीफ की है। तीसरे चित्र में जहाँगीर के दरबार में गवैयों और बजानेवालों के बीच में खड़े हुए तानसेन मिजराब से सरोद-सा एक यंत्र बजा कर गा रहे हैं। गाने और बजाने में और कई गवैये इनके साथी हैं। इन चित्रों के अलावा खास मुगल शैली का और भी एक चित्र है, जिसमें अकबर और तानसेन के जीवन की एक घटना दिखाई गई है। संगीत में तानसेन के गुरुओं में एक हरिदास स्वामी थे। आप एक संसारत्यागी संन्यासी थे और वृन्दावन में रहकर संगीत के द्वारा अपना साधन-भजन करते थे। हरिदास स्वामी की प्रशंसा सुनकर उनका गाना सुनने के लिये अकबर बड़े ही उत्सुक हुए, परंतु हरिदास स्वामी ने राजधानी में आना नहीं पसन्द किया। तब स्वयं अकबर तानसेन के साथ हरिदास स्वामी के आश्रम पर गए। आश्रम में उपस्थित शाहनशाह के सामने भी हरिदास स्वामी ने गाना अस्वीकार कर दिया। आखिरकार तानसेन ने स्वयं अपने गुरुजी के समक्ष गाना शुरू किया और जानबूझ कर गलत गाया। इससे चेले को दुरुस्त कर देने के ख्याल से हरिदास स्वामी स्वयं गाने लगे। फिर तो उनका गाना चल पड़ा। कहते हैं, हरिदास ऐसे सिद्ध गायक का गाना सुनकर अकबर भावावेश से ऐसे अभिभूत हुए कि कुछ काल के लिए बेहोश हो गये। होश में आकर उन्होंने तानसेन से पूछा—'क्यों तानसेन अपने

गुरु की तरह नहीं गा सकते ?' तानसेन ने जवाब दिया—'महाराज, मैं गाता हूँ तो एक पार्थिव सम्राट् की सभा में। पर मेरे गुरु गाते हैं परमेश्वर के दरबार में।' यह सुन्दर कहानी एक मुग़ल चित्रपट पर चित्रित हुई है। लम्बे कद के गोरे पतले हरिदास स्वामी अपनी कुटिया के सामने मृगचर्म पर बैठे तम्बूरा लेकर गा रहे हैं, कुटिया के दरवाजे के बाजू केले और दूसरे पेड़ों के हरे पत्तों से शीतल छाया वाले दिखाई देते हैं। दुबले-पतले काले रंग के तानसेन जमीन पर बैठे हैं। और बादशाह अकबर खड़े होकर गाना सुन रहे हैं। कुछ दूर पर बादशाह के तम्बू के कनात और ऊँट आदि की सवारी दिखाई पड़ती है, और इससे भी दूर पर दीवार से घेरे हुए एक नगर का दृश्य दिया गया है।

तानसेन की ये तस्वीरें हमें प्राप्त हैं। तानसेन के विषय में कुछ कहानियाँ भी मिली हैं, परन्तु उनकी सच्ची जीवन-कथा हमें आज तक उपलब्ध नहीं हुई। उनके जीवन की बहुत-सी मुख्य बातें बहुत रहस्यपूर्ण रह गई हैं। अकबर के सभापंडित और दरबारी ऐतिहासिक अबुलफजल ने अपनी आईन-इ-अकबरी में अकबर के वेतनभोगी छत्तीस दरबारी गवैयों में और यंत्रिओं के नाम दिये हैं, उनमें तानसेन का नाम सब से पहिला है। और तानसेन के बारे में अबुलफ़ज़ल ने ऐसा लिखा भी है कि विगत सहस्र वर्षों में उनके समान कोई भी गायक भारतवर्ष में नहीं हुआ। १९३४ वि० सं० (१८७७—१८७८ इस्वी) में राजा शिवसिंह सेंगर ने "शिवसिंह-सरोज" नाम से हिन्दी कवियों की जीवनी के साथ एक कविता संग्रह ग्रंथ प्रकाशित किया था। उसमें उन्होंने तानसेन के जीवन की कुछ घटनाएँ लिपिबद्ध की थीं। १८८९ सन् में सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने "न्यू माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान" नामक जो उपयोगी पुस्तक प्रकाशित की थी, उसमें तानसेन की जीवन-कथा 'शिवसिंह-सरोज' से उद्धृत की थी। शिवसिंह के अनुसार सम्वत् १५८८ (इस्वी १५३१—१५३२) में तानसेन का जन्म हुआ था। शिवसिंह ने कुछ प्रमाण नहीं दिया। उनके द्वारा प्रस्तावित यह

तारीख संभवतः ठीक नहीं है, क्योंकि इस तारीख को मानने से तानसेन के जीवन की कुछ विदित घटनाओं में असंगति दिखाई देती है। ऐसा हो सकता है कि उनका जन्म लगभग १५२० ईस्वी में हुआ हो। अकबर के दरबार में लिखे हुए फारसी इतिहास के अनुसार उनका मृत्युकाल था ९९७ हिजरी, अर्थात् १५८९ इस्वी सन्। तानसेन की मृत्यु अकबर की मृत्यु से पहले ही हुई थी। खुद अकबर के नाम से प्रचलित एक दोहे में इसका उल्लेख मिलता है। कहते हैं कि बीरबल के देहान्त के बाद अपने गंभीर खेद को अकबर ने इस दोहे में प्रकाशित किया था—

पीथल सों मजलिस गई, तानसेन सों राग।
हँसि बौ रमिबौ बोलिबौ, गयौ बीरबल साथ ॥

इस दोहे के "पीथल" थे बीकानेर के कुमार पृथ्वीराज राठौर, जो डिंगल या पुरानी राजस्थानी के विख्यात कवि थे। अकबर के दरबार में बीकानेर की तरफ से कफील या शरीर-बंधक बनकर रहा करते थे और इन्होंने ही चितौड़ के महाराना प्रतापसिंह को अपना विख्यात पद्यमय पत्र लिखकर अकबर की अधीनता स्वीकार न करने की राय दी थी। जहाँगीर की राज्य-प्राप्ति के बाद उनके दरबार में शामिल रहना, जो एक मुग़ल चित्र से दृष्टिगोचर होता है, संभवतः इन प्रमाणों के सामने, चित्रकार-कल्पना माननी पड़ेगी।

कहते हैं कि तानसेन के पिता का नाम था मकरंद पांडे। आप गौड़ ब्राह्मण थे। तानसेन ने बृन्दावन के हरिदास स्वामी के पास पहले कविता-रचना और संगीत विद्या सिखी थी। फिर वे ग्वालियर के सूफी साधु मुहम्मद गौस के शागिर्द बने। मुहम्मद गौस एक विख्यात गायक भी थे। आप बाबर, हुमायूँ और अकबर के समकालीन थे, और लोग आप पर बड़ी ही श्रद्धा करते थे। जिस समय ग्वालियर हिन्दुओं के अधिकार में था और तोमर-वंश के राजपूत राजा वहाँ शासक थे, तब से मुहम्मद गौस ग्वालियर में निवास करते थे। इन सूफी साधक ही की सलाह से बाबर के सेनापति रहीम-दाद मुग़लों की तरफ से ग्वालियर को अपने

कब्जे में ला सके। ऐसा सुनते हैं कि मुहम्मद गौस ने चेले तानसेन को गायन शक्ति देने के लिए अपनी जीभ से तानसेन की जीभ छुई थी और इसी करामत से तानसेन को असाधारण संगीत शक्ति प्राप्त हुई थी। १५६२ सन् में तानसेन अकबर के दरबार में आये, उसके बाद वे मुसलमान हो गये। तानसेन के इस्लाम कबूल करने का इतिहास रहस्यमय रहा है। अकबर की प्ररोचना से मुसलमान बनना संभव नहीं था, क्योंकि अकबर इस्लाम के सम्बन्ध में सदा के लिए उदासीन थे और अपने अंतिम जीवन में उन्होंने इस्लाम को तो त्याग ही दिया था। तानसेन की रची हुई गीतों के भाव और उनकी भाषा देखकर ऐसा विश्वास करने की प्रवृत्ति नहीं होती कि वे भक्तप्राण हिन्दू के सिवा कुछ और थे। मुसलमानी भाव के कुछ गाने, जो कि तानसेन के नाम से संयुक्त हैं—उनमें खास करके इस्लाम पर विशेष आग्रह का कोई भी परिचय नहीं मिलता। तो क्या उस्ताद मुहम्मद गौस से प्रभावित होकर तानसेन अपने को मुसलमान तो नहीं कहने लगे थे? ऐसा अनुमित होता है कि मुहम्मद गौस हिन्दुओं के भी बहुत प्रिय हो गये थे। शरीफ और भद्र हिन्दू का सम्मान आप किया करते थे, इसलिए कुछ कट्टर मुसलमान उन पर नाराज़ होते थे .यही इस बात का प्रमाण है। भारत में मुसलमान धर्म के फैलाने में मुसलमान पीर और फकीरों ने बहुत मदद दी थी, कार्रवाइयाँ की थीं, यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। सूफी ढङ्ग के इस्लाम ने प्रत्यक्ष और परोक्ष-भाव से, ज्यादातर परोक्ष भाव से, हिन्दुओं में इस्लाम प्रचार के काम में सहायता दी थी। फिर यह भी हो सकता है कि अपनी जवानी में तानसेन मुसलमान रईस और राजघरानों के साथ घनिष्ठ रूप से बर्ताव करते थे, इसलिये ब्राह्मण की आचारशीलता से भ्रष्ट हो गये होंगे, और इसी कारण उन्होंने अपनी बिरादरी से अलग रहना भी उचित समझा होगा। कुछ काल के लिए बादशाह शेरशाह के पुत्र दौलत खाँ के विशिष्ट मित्र बनकर तानसेन ने आगरे के दरबार में निवास किया था। इन सब बातों के अलावा यह भी

सम्भव है कि मुगलों की ग्वालियर-विजय के बाद तानसेन की बिरादरी के गवैये ब्राह्मण लोग जबरदस्ती मुसलमान बनाये गये हों। जाति की जाति को या बिरादरी की बिरादरी को बलात्कार से अपने धर्म से छुड़ाकर मुसलमानी की ओर खींच लेना, भारत के मुसलमान विजय के इतिहास में कुछ नई बात नहीं थी। भारत के कुछ सुप्रतिष्ठित कलाकार जाति के लोग मुसलमान विजय के साथ ही साथ मुसलमान बनाये गये। जैसे कपड़ा बनानेवाले तंतुवाय जाति के लोग, जो मुसलमान होने के बाद "जुलाहे" कहलाये। बंगाल के चित्रकार जाति के लोग, तमाम उत्तर भारत के ठठेरे, कुम्हार, रंगरेज़, धुनिये, पत्थर के काम करनेवाले, इत्यादि। तानसेन के इस्लाम-ग्रहण करने के बारे में और एक बात सोचने की है। अबुलफज़ल की आईन-इ-अकबरी में जो छत्तीस गवैयों के नाम दिये गये हैं, उनमें पन्द्रह ग्वालियर के हैं, और ग्वालियर के ये उस्ताद गवैये या कलावंत अधिकतया हिन्दू-नामवाले मुसलमान हैं; जैसे खुद "मियाँ तानसेन", और उनके पुत्र "तानतरंग खाँ"; और "श्रीज्ञान खाँ", "मियाँ चाँद", "विचित्र खाँ" उनके भाई का नाम पूरी तौर से इसलामी था—"सुभान खाँ", "बीरमंडलो खाँ", "प्रवीण खाँ", "चाँद खाँ"। इससे हमें संदेह होता है कि ग्वालियर-निवासी बहुत से ब्राह्मण—शायद तानसेन के गवैये घराने के—किसी सूरत से मुसलमान बन गये होंगे या जबरदस्ती बनाये गये होंगे, या किसी कारण अपनी ही ओर से मुसलमान-सम्प्रदाय में शामिल होना इनके लिए सहल हुआ होगा। और एक कारण भी सुना जाता है कि तानसेन ने किसी मुसलमान लड़की से प्रेम के कारण अपने धर्म को त्याग दिया था। एक असंभव-सी कहानी है। अकबर ने तानसेन को अपने दरबार में रखना चाहा, मगर अपने घमंड में मस्त उस्ताद कलाकार ने इनकार कर दिया; आखिर अकबर ने अपनी एक कन्या से तानसेन का ब्याह कर उन्हें प्रसन्न किया और तब से वे अकबर के दरबार को अलंकृत करने लगे, और शाही दामाद बनने के कारण मजबूर होकर उन्हें मुसलमानी माननी पड़ी। प्रेम के कारण

तानसेन ने धर्मान्तर ग्रहण किया, यह इस कहानी के अनुसार कोई असंभव बात नहीं है पर इसका और कोई भी प्रमाण नहीं है। जो हो, मुहम्मद गौस का प्रभाव तानसेन के ऊपर विशेष हुआ था, ऐसा संभव मालूम पड़ता है। तानसेन की मृत्यु के बाद उनका देह ग्वालियर के विराट् पर्वत-दुर्ग के पादमूल पर मुहम्मद गौस के समाधि-मंदिर के बगल में खुले आँगन में समाहित हुआ। तानसेन की पत्थर की यह समाधि अब उत्तर-भारत के कलावंत गवैयों के लिए एक तीर्थ-स्थान बन गई है; इस मज़ार में तानसेन की वफात के दिन बड़ा भारी जलसा होता है। संगीतनायक तानसेन की समाधि के पास इमली के पेड़ हैं, गवैयों में बड़े प्रेम के साथ इन पेड़ों के पत्ते चबाने की प्रथा चली आई है। इससे संगीत गुरु के आशीर्वाद से आवाज़ मीठी होती है—ऐसा विश्वास लोगों में है।

अपने नवयौवन के पृष्ठपोषक शेरशाह के पुत्र दौलत खाँ की मृत्यु के बाद तानसेन ने मध्यभारत के रीवाँ राज्य के बांधव के राजा रामचाँद बघेले के आश्रय में बहुत वर्ष बिताये। तानसेन के बहुतेरे ध्रुपद गानों में "राजा राम" इस नाम से इनका यशोगान किया गया है। इन्होंने तानसेन का बहुत सम्मान किया था, द्रव्य भी बहुत दिया था। इतने में ही तानसेन की ख्याति चारों ओर फैली, और सूर-वंश के बादशाह ने आगरे में अपने दरबार में उन्हें बुला भेजा, पर तानसेन रीवाँ छोड़कर नहीं आये। थोड़े दिनों के बाद मुगल बादशाह हुमायूँ ने आकर पठान शेरशाह के वंशधरों को हराकर उस राजवंश को ही विनष्ट कर दिया, और १५५६ सन् में फिर मुगलराज की प्रतिष्ठा की। पिता हुमायूँ के देहान्त के बाद अकबर अपने सिंहासन पर कायम हुए, और सन् १५६२ में जलालुद्दीन कुरची नामक एक मनसबदार को भेजकर रीवाँ से तानसेन को अपने दरबार में बुला लिया। इस बार तानसेन की आपत्ति नहीं मानी गयी। तानसेन का बाकी जीवन अकबर के दरबार ही में बीता। किसी समय अपने को मुसलमान-धर्मावलंबी स्वीकार करने के सिवा इसके बाद इनके जीवन में उल्लेखयोग्य और किसी घटना का पता नहीं चलता।

तानसेन तो गाने में अद्वितीय थे ही। कलावंत और संगीतकारों में भी तानसेन सम्राट् माने जाते हैं, पर कवि कहिये, तो तानसेन कवित्व शक्ति में भी कुछ कम नहीं थे। जिस समय तानसेन जीवित थे, वह प्राचीन हिन्दी-साहित्य का सब से गौरवमय-युग था—खास करके हिन्दी काव्य-साहित्य का। उनके समसामयिकों में थे मलिकमुहम्मद जायसी और तुलसीदास, उनसे एक पीढ़ी पहले के थे, अन्ध कवि सूरदास। अकबर के दरबार में एक तरफ थी, राजकीय भाषा फारसी—इसे मुगल या मुसलमानी राज की "पोशाकी" या बाहरी भाषा हम कहते हैं; और दूसरी तरफ थी, देशभाषा, राज की भीतरी भाषा, "हिन्दी"। उस हिंदी के उस समय तीन सुप्रतिष्ठित साहित्यिक-रूप थे। पूरब में अवधी या कोसली, बीच में ब्रजभाषा और राजस्थान में डिंगल। दिल्ली की खड़ीबोली की कोई साहित्यिक प्रतिष्ठा अब तक नहीं हुई थी, पर खड़ीबोली से पंजाबी की मेलजोल बहुत थी। यह दिल्ली में और दिल्ली के आसपास मेरठ, रोहिल-खंड, हरियाना, कर्नाल, अम्बाला प्रान्त में जनपद बोली के रूप में बोली जाती थी। कबीर जैसे संत और साधुओं के हाथ बननेवाले समग्र उत्तर-भारत के नये लोक-साहित्य में इस खड़ीबोली के रूप कुछ-कुछ दिखाई देते थे। अकबर की दो राजधानी आगरा और दिल्ली—खास करके आगरा—ब्रजभाषा के इलाके में शामिल थी, इस कारण उनकी सभा में ब्रजभाषा-हिन्दी ही को पूरा स्थान मिला था। इसमें खुद बादशाह से शुरू कर सब काव्यरसिक दरबारी सज्जन कविता करते थे। अकबर और अकबर के बाद मुगलों की कई पीढ़ियों तक—ईस्वी अठारहवीं शती के द्वितीयार्ध तक—भारत के मुसलमान सम्राटों के लिए भारतीय भाषाओं में सिर्फ ब्रजभाषा ही घरेलू भाषा थी। जैसे इंगलैंड के नारमन-फ्रेंच बोलनेवाले राजघरानों की देशभाषा अंग्रेजी को अपनाने के साथ ही साथ, अंग्रेजी के लिए एक नया विरुद व्यवहृत होने लगा, अंग्रेजी केवल नारमनों से विजित अंग्रेज प्रजा की भाषा न रही, वरन् यह शाही जबान 'द किंग इंग्लिश' बन गई, वैसे ही ब्रजभाषा-हिन्दी लगभग १०५० ईस्वी

से कम-से-कम १५५० ईस्वी तक "बादशाही हिन्दी" के रूप में व्यवहृत होती रही। बादशाह अकबर स्वयं ब्रजभाषा में पद रचते थे; इनका नाम "अकबर" या "अकब्बर सगाई" रूप में कुछ हिन्दी या ब्रजभाषा के पदों में मिला है और ऐसे पद (दोहा, कवित्त) भी हैं जो अकबर के लिखे हुए माने जाते हैं। अकबर के सभासदों में राजा बीरबल, मिर्जा अब्दुर्रहीम खान-खाना और बीकानेर के राजकुमार पृथ्वीराज राठौड़ हिन्दी (ब्रजभाषा और राजस्थानी) साहित्य के उच्चकोटि के कवि गिने जाते हैं।

गायक के रूप में अतुलनीय यश के अधिकारी होने के कारण, कवि के रूप में तानसेन का यशोभाग्य जितना होने चाहिये था, उतना नहीं हुआ। संगीतज्ञ कलावंत तानसेन के अन्तराल में जैसे कवि और साधक तानसेन ढक गये हों। ऐसा होने का एक मुख्य कारण यह था कि तानसेन केवल कवि न थे—कविता की रचना इनका एक मात्र काम न था। दरबार, मजलिस या सभा में सुर लय के साथ पाठकर सभासदों की तारीफ या रसिकों के साधुवाद और राजा बादशाह प्रभृति भाग्यवानों से आर्थिक पृष्ठपोषकता प्राप्त करने के लिए बड़े-बड़े काव्य या छोटी-छोटी कविताओं की रचना करना तानसेन का पेशा न था। "लिरिक पोयेट" यानी गीति कविताकार और साथ-ही-साथ गवैये—इसके सिवा तानसेन और कुछ नहीं थे। वह स्वयं गीत की वाणी या शब्द लिखते थे, और सुर-बद्ध करके स्वयं गाते थे। श्रोताओं के समक्ष संगीतरस ही इन गीतों का प्रधान आकर्षण था। कवि और साहित्यिकों की मजलिसों से कलावंत गवैयों के जलसों में इन गीतों का प्रचलन अधिक था। पर ये गवैये ज्यादातर तो थे सुर और तान के वैयाकरण; फलतः काव्य-रस उनके सामने गौण वस्तु था। इससे जान पड़ता है कि काव्य-सरस्वती अरसिकों के हाथों में पड़कर दुर्दशापन्न हुई। जो सचमुच कवि थे, ऐसे सहृदय जनों के चित्त को तानसेन के गीतों के काव्य-सौन्दर्य से आकृष्ट होने का अवसर नहीं मिला। तानसेन के सदृश जो साथ-ही-साथ गायक

और कवि थे, ऐसे बहुतेरे कवियों की दशा ऐसी ही हुई थी। तानसेन के समय के कवि और गायक बाबा रामदास और उनके पुत्र सूरदास (ये अंध कवि सूरदास से अलग व्यक्ति थे) और उनके पूर्व के और पश्चात् काल के समस्त कवियों और गायकों के संबंध में यह बात ठीक है।

प्रधानतया कवि के रूप में ख्याति या स्वीकृति न होने के कारण, अपने कवित्व-सौन्दर्य के कारण तानसेन के गीतों का प्रचार बाहर जितना होना उचित था, उतना नहीं हो पाया। साहित्य-रसिक लोग और पुस्तक अनुलेखक या नक़ल-नवीस कबीर, सूरदास, तुलसी, विहारीलाल, भूषण, मतिराम इत्यादि कवियों में उलझे रहे। इनके काव्यों की चर्चा में मस्त रहे। आध्यात्मिक-भाव के गीत बनाने से भी तानसेन को कोई धार्मिक मर्यादा न मिली, जैसे कबीर, नानक, दादू आदि को। गवैया-सम्प्रदाय के बाहर दूसरे लोगों ने इधर कुछ सोच-विचार न किया। बाहर के लोग सिर्फ गवैये या उस्ताद तानसेन को पहचानते थे। केवल गायक तानसेन का सम्मान करते थे। पेशेवर या व्यवसायी कलावंत लोगों ने भी अपने गुरु तानसेन के गानों को अपने सम्प्रदाय ही में सीमित रखा। इसमें इनका कोई भी अपराध नहीं था। जहाँ तक मुझे पता चला है काव्य के विचार से किसी ने कभी तानसेन के गीतों का संग्रह प्रकाशित नहीं किया, परंतु उत्तर-भारत के कलावंत संगीत की जिस किसी पुस्तक को देखिये तानसेन के दो-चार गाने अवश्य ही मिलेंगे।

तानसेन के अनुरागिओं के लिए यह तो एक अच्छी बात है कि फारसी, हिन्दी, बंगला, मराठी भाषाओं के मध्ययुग के साहित्य के नियम के अनुसार अन्यान्य कवियों की भाँति तानसेन भी अपने गानों में अपना नाम जोड़ दिया करते थे। कवि के द्वारा अपनी रचना के अंत में अपना नाम देने की रीति को बंगला में "भणिता देना" कहा जाता है। ऐसी भणिताओं के सहारे तानसेन के गानों के संग्रह का श्रीगणेश किया जा सकता है। परन्तु ऐसा हो सकता है कि बाज कवियों के गीतों में भ्रमवश तानसेन की "भणिता" या छाप आ गई हो, और तानसेन के अपने

गीतों की भणिता के स्थान पर दूसरे कवि की भणिता आ बैठी हो। इन् सब बातों का विचार कर, तानसेन के गानों की वाणी की एक संग्रह-पुस्तक निकालना हिन्दी तथा भारतीय साहित्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण काम होगा। संग्रह मुख्यतया काव्य की दृष्टि से करना चाहिये। तानसेन द्वारा रचित छपे हुए पद यथेष्ट मिलेंगे, इनके आधार पर इस काम का प्रारंभ हो सकता है। सन् १८४३ ईस्वी में कलकत्ते में मुद्रित और वहीं से प्रकाशित कृष्णानन्द व्यासदेव के बृहत् संगीत-संग्रह-ग्रंथ "संगीत-राग-कल्पद्रुम" में तानसेन की भणिता के अनेक पद मुद्रित हैं। इस महाग्रंथ का द्वितीय संस्करण सन् १९१४—१९१६ में मुर्शिदाबाद लाल-गोला के राजाबहादुर स्वर्गीय योगेन्द्रनारायण के अर्थव्यय से बंगीय-साहित्य-परिषद् द्वारा प्रकाशित हुआ। सन् १८८९ ईस्वी से कृष्णधन वन्द्योपाध्याय के रचित गीत सूत्र सार से शुरू कर बंगला, हिन्दी, मराठी आदि विभिन्न भारतीय भाषाओं में संगीत के विषय में जितनी पुस्तकें निकली हैं प्रायः उन सबों में तानसेन के गाने दिये गए हैं। इसके अलावा जो "खानदानी" कलावंत होते हैं, पीढ़ी-दर-पीढ़ी जो कलावंत की वृत्ति का पालन कर रहे हैं उनके कंठ में और उनके घर की दस्ती किताबों में तानसेन के अप्रकाशित गाने मिलेंगे। पश्चिम बंगाल के पुराने शहर विष्णुपुर के विख्यात खानदानी संगीतज्ञ, आधुनिक भारत के अन्यतम प्रमुख ध्रुपदी संगीत-नायक संगीताचार्य श्री गोपेश्वरजी वन्द्योपाध्याय हैं। तानसेन के वंशजों में से एक गवैया बहादुरसेन या बहादुर खाँ सन् १७१० में बंगाल के विष्णुपुर में आये थे, आप उन्हीं की शिष्य-परंपरा के अन्तर्गत हैं। इनके द्वारा लिखी हुई संगीत संबंधी बंगला पुस्तकों में तानसेन के गाने स्वरलिपि के साथ दिये गए हैं। इस प्रसंग में कई साल हुए कलकत्ते से प्रकाशित—इस समय दुष्प्राप्य—ध्रुपद भजनावली नाम की बंगला अक्षर में छपी हुई एक पुस्तक का उल्लेख होना चाहिये। उत्तर-बंगाल के रंगपुर के वकील बाबू रामलाल मैत्र ने अपने संगीत-शिक्षक बनारस से बंगाल में आये हुए शिवनारायण

मिश्र से बहुत ध्रुपद गाने सीखे थे। शिवनारायण मिश्र काशी के एक विख्यात ध्रुपदी नायक बख्त्यार सिंह के, जो कि तानसेन के घरानों के कहलाते थे, शिष्य थे। "अमृत बाज़ार पत्रिका" के अन्यतर संस्थापक स्वर्गवासी शिशिरकुमार जी घोष के आग्रह से रामलाल बाबू ने "ध्रुपद भजनावली" में शिवनारायण मिश्र से प्राप्त हुए ३७१ ध्रुपद गानों की वाणी प्रकाशित की थी, जिनमें १८० से अधिक तानसेन के हैं। बँगला लिपि में हिन्दी या ब्रजभाषा से अनभिज्ञ बंगाली नकलकार तथा मुद्रक के हाथों से मूलवाणी की जो दुर्दशा हुई है, वह अवर्णनीय है; तो भी यह पुस्तक तानसेन के संबंध में विशेष मूल्यवान् है।

प्राचीन काल के अन्यान्य मुख्य हिन्दी कविओं की भाँति तानसेन ने भी ब्रजभाषा का उपयोग किया था। ब्रजभाषा मुख्यतः ब्रजमंडल अर्थात् मथुरा के आस-पास के प्रान्तों की कथित भाषा या बोली है। बंगाल के बैष्णव पदों में बंगला और मैथिल के मिश्रण से "ब्रजबोली" नाम की जो कृत्रिम साहित्यिक भाषा मिलती है, वह मधुर बृन्दावन की ब्रजभाषा से बिलकुल दूसरी चीज़ है। ब्रजभाषा में एक लक्षणीय साहित्य है। यह भाषा बहुतेरे कवि और और गद्य लेखकों की कृति से भरपूर है। उत्तर-भारत की आधुनिक-नव्य-आर्यभाषाओं में, अपने श्रुति-माधुर्य तथा गांभीर्य के कारण ब्रजभाषा का सौन्दर्य और उसकी शक्ति अतुलनीय है। गीति कविता के लिए यह भाषा विशेषतया उपयोगी है। हम ऊपर कह चुके हैं कि तानसेन के समय में दिल्ली मेरठ की खड़ी बोली साहित्यिक-भाषा नहीं बनी थी। हिन्दुस्तान की भाषाओं में केवल ब्रज, कोसली और डिंगल भाषाएँ साहित्यिक मानी जाती थीं। तानसेन की ब्रजभाषा मध्ययुग की ब्रजभाषा है, उस समय भारत की आर्य बोलिओं में स्वरध्वनि की बहुलता थी; ब्रजभाषा भी इस स्वर-बहुलता के कारण (इसके सब शब्द स्वरांत होते थे) विशेषतया श्रुति-मधुर भाषा है। गानों के लिए तो इसका खास गुण है। गानों में जब लाई जाती है तब ब्रजभाषा के उच्चारण के कुछ विशेष ढंग कहीं-कहीं आ जाते हैं। ये

विशिष्ट ढंग कम-से-कम गाने की कुछ शैली में सुन पड़ते हैं। एक विशेषता तो यही है कि अनुनासिक वर्णों के बाद उस अनुनासिक वर्ण के अपने वर्ग के स्पर्श वर्ण (वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ) आने से, इस अनुनासिक-संयुक्त वर्ण के पूर्व के अक्षर में अ-कार रहने से, वह अ-कार ऑ-कार-सा उच्चारित होता है। जैसे "पंकज, संख, गंग, अंघ्रि, पंच, अंजन, झंझ, कंठ, मंडल, अंत, पंथ, चंद, सुगंध, कंप, अंब, अंभ" इत्यादि शब्द "पॉंकज, सॉंख, गॉंग, ऑंघ्रि, पॉंच, ऑंजन, झॉंझ, कॉंठ, मॉंडल, ऑंत, पॉंथ चॉंद, सुगॉंध, कॉंप, ऑंब, ऑंभ, सुन पड़ते हैं। गाने के समय इससे सानुनासिक संयुक्त वर्णों में कुछ विशेष श्रुति-माधुर्य आ जाता है। इसके बाद शब्दों के अंत में अ-कार रहने से वह अ-कार कभी-कभी अर्धोच्चारित उ-कार-सा हो जाता है।

तानसेन के पदों की तथा समकालीन दूसरे अनुरूप हिन्दी कवियों की भाषा का एक लक्षणीय वैशिष्ट्य यह है—भाषा का संक्षेप या संकेतमय रूप में भाषा का प्रयोग। व्याकरण के अनुसार शब्द तथा धातुओं के साथ सुप् और तिङ् प्रत्यय जोड़कर वाक्य-स्थित "पद" बनाये जाते हैं; पर मध्य-युग की हिन्दी कविता में मानों प्रत्ययों का यथासंभव बहिष्कार किया जाता था। जहाँ अनुसर्ग और प्रत्यय न रहने से अर्थग्रहण होना कठिन होता है, सिर्फ वैसे ही स्थानों में इनका पूरा प्रयोग होता है, अन्यथा नहीं। नाम-पदों के प्रातिपदिक रूप और धातु का एक अकारान्त रूप—इन्हीं से जहाँ तक हो सके, काम लिया जाता है। वाक्यों में ये अधिकतया मिलते भी हैं। केवल एक के बाद दूसरे बिठाये गये मूल शब्द, या समस्त-पद; या धातु; ये सब पृथक् अवस्थित विभक्ति-प्रत्यय-बिरल शब्द भरकम होते हैं इनके द्वारा कुछ खास शक्ति का प्रकाश आ जाता है, भाषा में एक प्रकार की वाचंयमता के साथ जमावट आती है। तानसेन के गानों में अकसर ऐसे शुद्ध भरकम शब्दों का प्रयोग होता है, इन शब्दों को केवल सुनने से ही हमारे चित्तपट में चित्र के बाद चित्र अंकित हो जाते हैं।

तानसेन के पद ध्रुपद गाने के अस्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग इन चार अंशों का आश्रय लेकर चार खंडों में विभक्त होते हैं। पदों के छंद साधारणतया दीर्घ होते हैं, चार छत्रों के बड़े-बड़े हिन्दी छन्द तानसेन के पदों में मिलते हैं; फिर चार छत्रों में विभाजित गद्य भी मिलता है।

विशेष करके ध्रुपद गाने के लिए ये सब पद या गीत रचे हुए हैं। तानसेन की काव्य-सरस्वती की स्वच्छन्द और सावलील स्फूर्ति के लिए यह एक कठिन अंतराय के रूप में खड़ा है। इधर पद का बाह्य रूप श्रृंखलाबद्ध है, उधर विषय-वस्तु भी सुनिर्धारित है। ध्रुपद गीत के विषय केवल ये ही हो सकते हैं। परब्रह्म या परब्रह्म के ध्यान ग्राह्य स्वरूप शिव, देवी, विष्णु, राम, कृष्ण, सूर्य, गणेश इत्यादि हिन्दू पौराणिक देवताओं का महिमाकीर्तन, उनके रूप और उनकी लीलाओं का वर्णन। प्रकृति-वर्णन, विशेषतया, विभिन्न ऋतुओं का वर्णन; संगीत का महिमाकीर्तन; राधा-कृष्ण अथवा साधारण नायक-नायिका का विरह-मिलन; अभिसार आदि अवस्था में प्रेम-वर्णन एवं राजाओं के महत्व या गौरव का वर्णन। तानसेन और दूसरे कवि के मुसलमानी मज़हब के मुताबिक ध्रुपद के कुछ पद मिले हैं; इनमें अल्लाह की स्तुति और गुण-वर्णना और नबी मुहम्मद और मुसलमान पीर या साधकों के गुण वर्णन—ये सब पाये जाते हैं। ध्रुपद गाने में व्यवहृत शब्द प्रायः सब-के-सब पुरानी हिन्दी और संस्कृत के होते हैं। तानसेन के समय अरबी-फारसी शब्दों से लदी हुई उर्दू का उद्भव नहीं हुआ था। पर कुछ मुसलमानी मत के पोषक पदों में उस मत के आवश्यक कुछ कुछ अरबी-फारसी नाम और अन्य शब्द प्रयुक्त होते थे।

यह मानना पड़ेगा कि ध्रुपद-रीति के पदों में कवि की कवित्व-शक्ति के पूर्ण प्रकाश के लिए कुछ लक्षणीय बाधायें थीं। तो भी तानसेन एक प्रथम श्रेणी के प्रतिभावान् कवि थे, यह बात बंधनों के बीच उनकी वाणी के सौन्दर्य से प्रमाणित होती है। ध्रुपद में किसी एक प्रकार का

धीरोदात्त और स्निग्धगंभीर भाव विद्यमान है; इसकी गठन शैली होती है, विराट् वास्तु-शिल्प की सी, परस्पर-ग्रथित और सुसंबद्ध। इस वास्तुशिल्पानुरूप गुण के कारण तानसेन के ध्रुपद गीतों में एक कोटि की महिमा, एवं एक शुद्ध-संयत भाव आ जाता है, जो कि उनकी रचना-शैली की उदारता, उसके आभिजात्य एवं उनके शब्द-चयन की शक्ति से और भी पुष्ट और भी समृद्ध और भी उद्भासित हो उठते हैं। देवताओं की स्तुति में या इनकी महिमा के कीर्तन में विशेषण और नाम-शब्दों का प्रयोग तानसेन ने अपने पदों में किया है, ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें कोई आदमी या मौलिक महत्त्व और विशालत्व भरा हुआ है। दृष्टांत के रूप में परब्रह्म, शिव या विष्णु विषयक कुछ पदों का उल्लेख किया जा सकता है। पंखियों के गाने और दक्षिणी पवन के साथ वसन्त ऋतु का आनन्दमय रूप, पूरबी बयार, बादलों की घटा, बिजली की चमक, मेघगर्जन और वारिपात के चित्र, मोहक स्निग्ध ध्वनि के साथ वर्षा ऋतु, विश्वप्रकृति को ज्योति से उद्भासित कर उषःकाल में सूर्योदय, हिमालय की गोदी में ध्यान-मग्न योगीश्वर धूर्जटी महादेव, श्री के साथ महासागर पर अनन्तशायी महाविष्णु, राधा और कृष्ण की शाश्वत अनैसर्गिक प्रेमलीला—भारतीय काव्य-साहित्य में महिमामय तथा माधुर्यमय जो भी कुछ हो,

was reize und entzuect,
was saettigt und naehrt

उन सबों से तानसेन के पद मानों भरपूर हैं। प्राचीन और मध्य-युग के हिन्दू-काव्य, ज्ञान, योग और भक्ति का मानों मंथन करके जो नवनीत निकला, वह तानसेन के पदों के स्वर्ण कटोरे में धर दिया गया है। ध्रुपद की वाणी तथा अन्य कवियों के नायक-नायिका और राग-रागिणी की वर्णना के पद—इनमें प्राचीन राजपूत और मोगल शैली के चित्रों की कवितामय व्याख्या या टीका पाई जाती है। ये दो वस्तुएँ भारत के काव्योद्यान के दो अनिन्द्य सुन्दर सौरभमय पुष्प हैं। ऋग्वेद

के ऋषियों के समय से शुरू कर भारत की प्राचीन तथा मध्ययुग की कवि-परंपरा के बीच तानसेन का आसन सुतरां गौरवमय है।

तानसेन राजसभा के कवि थे। जगत् के इतिहास में श्रेष्ठ महा-मानव सम जो राजा थे उनमें से अन्यतम सम्राट् अकबर के उपयुक्त सभासद् और सभागायक थे। राजसभा के कवि और गुणी होते हुए भी, तानसेन की काव्य-वस्तु देश के जन-साधारण या जनता की अनु-भूति के बाहर की नहीं थी; राजा की सभा में बैठकर उन्होंने जो पद बनाये, जो गीत गाये, उनसे पंडित और अभिजातजन, वणिक और योद्धा, दीन ग्रामीण कृषक और शिल्पी, सब श्रेणी के मानवों के अन्तरतम व्यक्तित्व का संयोग था।

"आविर् अकृत प्रियाणि"

जो कुछ हमारे प्रिय हैं, जो हमें सुहाती हैं, उन्हें सर्वजन समक्ष उन्होंने प्रकाशित कर दिया है, नये तौर से उन्हें आविष्कृत कर दिया, अपने काव्य और संगीत की आलोक-धारा से उन्हें परिस्फुट कर दिया है। तानसेन की कविता ने भारत के जातीय-चित्त से रस पीकर अपने रूप को विकसित कर दिखया है।

तानसेन के नाम से संयुक्त जो पद या कविता मिलती हैं, वे खंडाकार में विच्छिन्न रूप से ही मिलती हैं; परम्परागत या क्रम-विकास के अनुसार उनकी सजावट अब असम्भव-सी दीखती है। रामलाल मैत्र महाशय द्वारा संकलित "ध्रुपद-भजनावली" पुस्तक की भूमिका में कहा गया है कि तानसेन का व्यक्ति-जीवन तीन पर्याय या विभाग में विभक्त किया जा सकता है। पहिला विभाग यौवन का है। इस समय इन्होंने अपने मित्र और पोषक राजाओं के गुणगान किये हैं और ऋतु प्रभृति प्राकृतिक-वस्तु के वर्णन ज्यादातर किये हैं। दूसरा विभाग प्रौढ़काल का है। इस अवस्था में आप देवताओं की लीला और महिमा गाते थे, इस श्रेणी के पदों में ऐश्वर्य-बोध तथा अन्तर्दृष्टि दोनों ही मिलती हैं, पर गंभीर आत्मानुभूति नहीं दीख पड़ती। तीसरे विभाग

में अपने परिणत वय और वार्धक्य की कविताओं में तानसेन राधाकृष्ण-लीला का वर्णन कर गये हैं। राधाकृष्ण-विषयक पद वस्तुतः भावगांभीर्य तथा भक्ति के गाम्भीरत्व में अतुलनीय हैं। परन्तु ऐसा पर्याय-विभाग पूर्णतः समालोचन की अपनी ओर से की हुई वस्तु है, तानसेन के पदों में ऐसे किसी ऐतिहासिक क्रम का निरूपण करना अब असंभव है।

सरल और अकपट विश्वास और प्रीति के कारण तानसेन के विनय अर्थात् प्रार्थनात्मक-पद अपने ढंग के अतुलनीय हैं। उनके धार्मिक पदों में हमें एक तात्विक, मर्मज्ञ और भक्त-व्यक्ति से साक्षात्कार होता है। अपनी जातीय-संस्कृति के मुख्य वस्तु और सिद्धान्तों से सुपरिचित और उनके संबंध में श्रद्धावान् और आस्थाशील एक यथार्थ ब्राह्मण का भी परिचय तानसेन के पदों से होता है। शिव, पार्वती, विष्णु, लक्ष्मी, सरस्वती, सूर्य, गणेश प्रभृति महनीय और विराट् कल्पना की अन्तर्निहित गंभीरचिन्त ज्ञान और उपलब्धि, कविदृष्टि और सौन्दर्यबोध—इन सबों में कोई भी उनके दर्शन से छिप नहीं सका। वेद और उपनिषद् से, रामायण, महाभारत, पुराण और तंत्र, और मध्य-युग के साधु और संतों के भक्तिवाद इन सबों में जो ज्ञान, जो सत्यसृष्टि, जो प्राण और जो रसदृष्टि है, तानसेन उन सबों के उत्तराधिकारी हैं। तानसेन के ध्रुपद सुनने से सुननेवाले के मन में प्रार्थना और आत्मनिवेदन के दिव्यभाव की जागृति होती है, यह भी देखा गया है।

किसी देवमन्दिर में देवविग्रह के समक्ष, अथवा मित्रगोष्ठी में या रसिक-समाज में, ज्योत्स्ना-विधूत रात्रि में सौध-शीर्ष पर, अथवा उद्यान के चबूतरे पर, नक्षत्रखचित रजनी में नदी या किसी विराट् जलाशय की तीर-भूमि पर, या किसी आश्रम या कुँजवन में बैठकर सुनना, ध्रुपद गाने के लिए सब से उपयोगी पारिपार्श्विक होते हैं। बाणभट्ट की कादम्बरी में, अच्छोद सरोवर के तीर के शिवालय में विरहिणी कुमारी महाश्वेता की वीणा के साथ गान करने का अति मनोहर चित्र वर्णित है। महाश्वेता के कंठ से शिव की महिमा वीणा-वादन के साथ जिस संगीत

रीति से गीत हुई थी, वह इस समय से सहस्र वर्ष पूर्व के ध्रुपद संगीत के सिवा और क्या हो सकता है ? दुष्यंत की रानी हंसपदिका ने अपने "सकृत्कृतप्रणय" पति के चित्त में प्रणय के पुनराविर्भाव की आशा से वीणा बजाती हुई जो 'कलविशुद्धा' 'रागपरिवाहिनी' 'गीति' का गान किया था वह भी ध्रुपद के किसी कोमल राग के प्राचीन रूप का प्रकाश रहा होगा। वैसे "मेघदूत" की विरहिणी यक्ष-पत्नी वेदनातुर हृदय से वीणा बजाने की चेष्टा करती हुई निर्वासित पति के स्मरण में जो पद गाती थी, गाने के बीच में अपनी रची हुई मूर्छना को भूल जाती थी, वह पद कालिदास के समय के ध्रुपद के सिवा और क्या रहा होगा ? ईश्वर की जो स्तुति निसर्ग की सुन्दर वस्तु और सुश्राव्य ध्वनिनिचय द्वारा प्रतिदिन ध्वनित हो रही है, हिमालय की अरण्य-संकुल उपत्यकाओं में शुषिर वंश दंडों के मध्य से प्रवाहित होकर वायु जिस वंशी-निःस्वान को मुखरित कर जाता है, पर्वत की गुहाओं में प्रतिध्वनि जगाकर मेघों के गुरु गर्जन से जो मृदंग मंद्रित हो रहा है, अदृश्य किन्नरियों की कंठध्वनि से सम्मिलित होकर प्रकृति के उस शिवमहिम्नस्तोत्र का गान, मानों इस ध्रुपद-संगीत में ही कदाचित् प्रकाशित होता है। और राधा के लिए युग-युगान्त से श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि, श्रीकृष्ण के लिए राधा की शाश्वत अभिसार-यात्रा इन सब का भी आभास ध्रुपदमें ही प्रतिध्वनित होता है।

रोमन-कैथोलिक धर्म की सब से मनोहर और गांभीर्यपूर्ण पूजापद्धति देखने के अवसर मुझे मिले हैं। अपने हिन्दू धर्म की अपूर्व श्री-शोभा-मंडित बहु पूजा-पाठ और यज्ञादि अनुष्ठान मैं देख चुका हूँ। नाना प्रकार की पाठ पद्धति श्रद्धा के साथ मैंने सुनी है—काशी में, पुरी में, दक्षिण के तामिलदेश के तीर्थों में, अन्य क्षेत्रों में। साधारणतः इन सब पूजा-पाठ के आभ्यन्तर-सौन्दर्य और महत्व ने मुझे मुग्ध किया है। परन्तु विशेष करके मेरे मन में उदित हो रही है, उदयपुर राज्य में एकलिंग जी के मन्दिर के एक दिन की भोर की पूजा की स्मृति। गैरिक वसन पहने हुए गले में

और हाथों में रुद्राक्ष की माला पहने हुए तेजःपुंज कलेवर गौरवर्ण दीर्घकाय श्मश्रुमान् एक संन्यासी पुजारी, अति सुन्दर शुद्ध उच्चारण के साथ मंत्र पढ़कर भगवान् की पूजा कर रहे थे; बीच-बीच में पूजा के बीच में गर्भगृह के द्वार बंद किये जाते थे; इधर अलंकरण-मंडित प्रस्तरमय देवमूर्ति के सामने के नाट्य मन्दिर में एक कलावंत गायक पखावज और सारंगी बजैये के साथ बैठे थे। पूजा के लिए जब देवगृह के दरवाजे बन्द होते थे तब वे शंकर की स्तुति के लिए एक ध्रुपद चौताल गाने में लग जाते थे। कुल मिलकर पूजा का जो अपूर्व वातावरण बना, भाषा में उसका क्या वर्णन करूँ। पूजा समाप्त होते समय पुजारी के शेष मंत्रों में एक की ध्वनि ने मानों समग्र अनुष्ठान के संबंध में अन्तिम वचन सुना दिया। इस मंत्र के श्लोकों का सम्पूर्ण रूप से स्मरण में रख नहीं सका। परन्तु एक श्लोक का अंश कुछ ऐसा था—

"शिवे भक्तिः शिवे भक्तिर्भक्तिर्भवतु मे सदा।"

तानसेन के ध्रुपद की कविता के एकमात्र उपयोगी चित्रमय प्रकाश हम राजपूत और मुगल-चित्र में देख पाते हैं। ये सब चित्र और तानसेन की कविता, ये दोनों परस्पर की पूर्ति करनेवाले हैं। ध्रुपद गानों के लायक पारिपार्श्विक या दृश्यों से ऐसे चित्र परिपूर्ण होते हैं। राजपूत शैली के रागमाला चित्रों को "दृश्यमान संगीत" आख्या दी गई है और यह आख्या सार्थक है। पर्वतराजकुमारी उमा अकेली या सखी सहित अरण्यमय गिरिपार्श्वदेश में गंभीर निशीथ में शिवपूजा कर रही हैं। संगीतकार, वादक और योगी मिलकर नदी-तट पर किसी आश्रम में बैठे वार्तालाप कर रहे हैं। शरत्काल के प्रभात रौद्र में अचिरस्नाता पूजानिरता कुमारी चित्रित हैं। इस प्रकार वह चित्र ध्रुपद गानों को सुन्दर रूप से प्रकाशित करते हैं।

तानसेन के कुछ पद उद्धृत करके मैं इस निबंध का उपसंहार करूँगा। अधिकतया ये पद बंगाल के गवैयों में प्रचलित पाठों से उद्धृत किये गये हैं। पाठ में कुछ भूल-भ्रान्ति रह सकती है, विशेषज्ञ पाठकगण

कृपा कर संशोधन कर लेवें। उषा-संपर्कित पदों में वैदिक उषा-विषयक सूक्तों की प्रतिध्वनि पाई जाती है। इन कविताओं से तानसेन के कवित्व-माधुर्य का अनुभवी पाठक आस्वादन कर सकेंगे।

[१] सूर्योदय। राग ललित-भैरव। ताल चौताल॥

हेम-किरीटिनी उषा देवी कनक-बरनी सविता-गेहिनी।
उदत मधुर हास जग हसायौ।
सिन्धु-बाटि उदत भानु, बिमल सोह जैसे मानौं।
दिसा-नायरी कनक-गागरी पानी भरि भरि मङ्गल अस्नान करायौ।
विहग मधुर ललित तान गावै, भुवन नव जीवन।
आनँद-मगन सब जग-जन मङ्गल-गीत गायौ।
आयी उषा कवँल-नेत्री, गायत्री, जगधात्री, लै कै।
अरुन-किरन-मञ्जन तानसेन-मानस-तामस दूर लियौ॥

[२] शिव। राग भैरव। ताल धीमा तिताला॥

महादेव महाकाल धूरजटी सूली पञ्चवदन प्रसन्न-नेत्र।
परमेश्वरपरात्पर महा-जोगी महेश्वर परम-पुरुष प्रेममय परा सान्तिदाता।
सरिता-गन भिन्न भिन्न पन्थ जैसे आवत, सिन्धुवा पाइ रहत मगन—
तानसेन कहै—तैसे भगत भिन्न भिन्न मूरति उपासत ए मही बमूह आवत॥

[३] सूर्योदय। रागिनी ललित। ताल चौताल॥

गगन-मंडल-मध्य उदयाचल-पर अष्ट-बाजी कनक-रथ में अरुनसारथि होत, प्रिया उषा सवें अरुन-बरन रङ्गी बसन पहिरि भानु उदत।

गगनाङ्गन अँधार-धूरिया किरन-मञ्जन दूर लिया, हुल्लास प्रकृति हँसत अभिआ, विचित्र भूषन मोहन साजत।

कानन-कुन्तल नीहार-बूँदन जड़ित, मुकुता-माल मानौं, सिन्धु निचोल, अचल मेखला, नितम्ब धरन बिसाल।

बाला के सिन्दूर-बूँद भाल, ग्रह-उड़-सप्तऋषि-मण्डल सोहन; प्रकृति सोह निहारि तानसेन प्रान मतावत ॥

[४] नारायण के प्रति । विनय । रागिनी भैरवी । ताल चौताल ॥

अन्तकाल कृपा करो । हिआ-पर ठाढ़ौ हरि कवँल-नैन, कवँला-पति, मुरली अधर, ललित-मधुर, बङ्किम भङ्ग बङ्क-बिहारी ।

बदन खीन, इन्द्रिय-हीन; पाप सुवँरि सुवँरि अस्थिर प्रान; निरासा प्रबर, विश्व अँधार; गेह छोड़ि प्रान जात हरि । विषय आपद, सुख सम्पद धन जन दारा बाँधव सुत सब-कौ छोड़ि चलिहौं, एक करम अब सङ्गि रहियौ ।

पतित-पावन प्रभु जनार्दन, पतित दीन तानसेन; विश्व मोहन, पारगामी प्रान, आस्रय दीजै, गोलोक-बिहारी ॥

[५] सूर्यास्त । रागिनी सायरी । ताल चौताल ।

जगत-जीवन सविता-देव अस्ताचल-में जात, अँधार जगत मोहित होके मोह माया-में सुपत ।

पसु-पंछी कलरव कर जात सब आपे कौ भवन भये रहन गुपत ।

प्रकृति स्तबध मुगध, मोह-जाल नर-नारी-जीव-जन्तु अचेतन होत, आवत नींद सरन ।

तानसेन-प्रभु कृपा-निदान जगत-कारन, अज्ञान-तम-सों जात लुपत ॥

[६] विनय । दरबारी तोड़ी । ताल चौताल ।

प्रान मेरौ ही रोवत है विरह प्रान-बल्लह निस-दिन; हे हरि, सरनागत दीन-कौ दरसन काहे न मिल ।

ढूँढ़ि हिर्दे न पावै निधि, या बिधि तेरी बिधि; हिर्दे-नाथ, दीन-नाथ, कौन गति कौन मेरे अपराध-के फल ।

सून प्रान, सून मन, सून हिर्दे आसन; अँधार भयौ विस्व-संसार, हे नाथ । तानसेन बिनती करत—आइ हिर्दे जगन्नाथ मरुभूम प्रेम-बारि बरखि प्रान कीजै सीतल ॥

[७] परमेश्वर-स्तुति । रागिनी अलैया । ताल चौताल ।

जगत-जीवन हौ प्रभु, भगत-बच्छल तूँ ही भगवान; भगत-हिअ-पङ्कज-राज अचल-राज राज-राजेश्वर अगन-भुवन-पालक ।

तूँ ही माता, तूँ ही पिता, तूँ ही धाता बान्धव; तूँ ही प्रिय प्राना-राम, तू ही सान्ति, सुख गति, मोछ-भक्ति-दाता ब्रह्म तारक ।

प्रान-बल्लह, बहुबल्लह—तानसेन-कौ एक बल्लह; माया-मोह-मुगध चीत संसार ताप तपत; सान्ति दाता, दीजै सान्ति दीन-कौ ॥

[८] वसन्त । रागिनी हिन्दोल । ताल चौताल ।

सरस सुन्दर ऋतुराज बसन्त आवत भावन, कुञ्ज कुञ्ज फूलि फूलि भवँर गुँज, कोयिल पञ्चम गान मतावै नर-नारी ।

कानन कानन फूटत चमेली, बकुल गन्धराज बेली, मोतिया गुलाब सुगन्ध मनोहारी ॥

पवन चलत मन्द मन्द बिछुड़ि गन्ध चहुँ दिस; गुञ्जन झनन नाद पञ्चम पूरत सबहूँ बन-भुव ।

रति-पति भज जुवक-जवती, नाचत गावत हिन्दोल माति; गोविन्द-मङ्गल तानसेन गायौ री ॥

[९] वर्षाऋतु । राग मल्हार । ताल चौताल ॥

बादर आयौ री, बाल पिअ बिन लागइ डर पावन ।

एक तो अँधेरी कारी, बिजुरी चवँकत उमड़-घुमड़ बरखावन ।

जब-ते पिया परदेस-गवँन कीनौ तब-तें विरह भयौ मो तन-तावन ।

सावन आयौ, अत झर लावन; तानसेन प्रभुन आवै मन-भावन ॥

[१०] उमा की शिवपूजा । राग भैरव । ताल चौताल ॥

चन्द्र-बदनी मृग-नयनी हँस-गवँनी चली है पूजन महादेव ।

कर लिये अरघ-थार पुहपन-के गूथे हार, मुख दियरा जराए देवन-में देव महादेव ।

सोलह सिङ्गार बतीसौ अभरन सज नखसिख सुन्दरताई छबि, बरनी न जाइ, है निरमल मञ्जन कर सेव ।

तानसेन कहै—धूप दीप पुष्प पत्र नैवेद्य लै ध्यान लगाय हर हर हर आदि देव ॥

[११] विरह । रागिनी विहाग । ताल चौताल ॥

साईं, तूं न आवै आज, आधी रात (आँधी रात), माझ माझ सिंहनी जगावै सिंह कानन पुकार ।

चन्दन घसत घसत घस गये नख मेरे, बासना न पूरत माँग-को निहार ।

धिक जनम मेरे, जग-में जीवन मेरे बिमुख लगावै नाथ पकरि बेनु बार बार ।

हौं जन दीन अति नयन-हू बारि बहै; तानसेन-अन्तर-बानी धुरुपद पुकार ॥

[१२] विरह । राग विलावली । ताल चौताल ॥

तन-की ताप तब ही मिटैगी मेरी, जब प्यारे-कौ दृष्टि-भर देखौंगी ।
जब दरस पाऊँ प्रान-प्रीतम-कौ, जनम जीतव सफल अपनौ लिखाऊँगी ।
अष्ट जाम मोहि-कौ ध्यान रहत वा-कौ, आली-कौ ले भेटौंगी ।
तानसेन प्रभु कोऊ आन मिलावै, ता-के पावन सीस टेकाऊँगी ॥

गुसाईं तुलसीदास

मैंने कहीं किसी ऐतिहासिक का कथन सुना था कि १६वीं शती के अन्तिम भाग में भारतवर्ष में तीन दिव्यविभूति-युक्त महापुरुष विद्यमान थे; पर भारत तथा विश्व के लिए यह खेद की बात थी कि उन तीनों का मिलन-साक्षात्कार और मेल-मिलाप नहीं हो सका। उनमें से से दो—महामति सम्राट अकबर और स्वाधीनता के वरपुत्र वीरश्रेष्ठ चित्तौड़राज प्रतापसिंह—तो आपस में प्राणान्तकर संग्राम में लगे हुए थे। तीसरे महापुरुष थे गोस्वामी तुलसीदास, जिनकी ख्याति अकबर के दरबार तक न पहुँचने का कारण यही था कि वे अपने आश्रम के एकान्त में छिपे रहते थे, अपने साधन-भजन में आत्म-समाहित थे, और कविता-रचना द्वारा अपने देवता की अर्चना करते थे। अकबर की बुद्धि और कर्म-शक्ति, प्रताप की शूरता और देश-प्रीति तथा तुलसी की भक्ति और कल्पना, प्रजा की आध्यात्मिक मुक्ति के लिए व्याकुलता—इन गुणों का संयोग यदि होता, तो भारत के लिए क्या न होता! पर विधाता का अभिप्राय मनुष्य के ज्ञान और विचार की पहुँच के बाहर है।

अकबर ने भारत की 'विश्व-मैत्री' की प्राचीन वाणी को अपने ढंग से, 'सुलह-इ-कुल्ल्' के फारसी-अनुवाद के रूप में, भारत के जीवन में कार्यान्वित करने की चेष्टा की थी; पर उनको इस साधना में सिद्धि नहीं मिली। प्रताप ने प्राणपण युद्ध चलाया था। इससे प्रताप की

इज्जत बची और राजपूतों का मुँह काला नहीं हुआ, पर भारत के हिन्दू स्वातन्त्र्य की रक्षा नहीं हो सकी। प्रताप की मृत्यु के बाद के सौ वर्षों के बीच छत्रपति शिवाजी ने हिन्दू-जाति की रक्षा का बीड़ा उठाया और महाराष्ट्र में 'हिन्दू-पद-पादशाही' की स्थापना की। पर एक सौ वर्षों के अन्दर ही सन् १७६१ में पानीपत के मैदान में शिवाजी तथा पेशवा लोगों की कीर्ति मिट गई। अकबर की भाव-धारा को उनके प्रपौत्र राजकुमार दाराशिकोह ने पुनर्जाग्रत करने का प्रयास किया; पर औरंगज़ेब के कट्टरपन की लू ने आकर उस निर्मल धारा को सुखा दिया। प्रताप की शूरता की कहानी आज तक जीती है। अकबर की उदारता और न्याय प्रतिष्ठा की स्मृति आज तक भारतीय प्रजा के हृदय से दूर नहीं हुई है। पर इन दोनों की विभूति हमारे लिए आज प्रत्यक्ष नहीं है—ऐतिहासिक अतीत की गुफा से अध्ययन और अनुशीलन द्वारा उन्हें अधुनिक जीवन में बाहर लाना पड़ता है, दैनिक-जीवन से उनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। पर तुलसीदास की बात दूसरी है। अपनी भक्ति के साथ-ही-साथ समाज की रक्षा के लिए उनका अपरिसीम आग्रह था, और इसी भक्ति और समाज-रक्षा की चेष्टा के फल-स्वरूप 'रामचरितमानस' महाग्रन्थ रचित हुआ था, जिसकी पूत धारा ने आज तक उत्तर भारत की हिन्दू-जनता के चित्र को सरस और शक्तिमान कर रखा है और जो उसके चरित्र को भी सामाजिक सद्-गुणों के आदर्श की ज्योति सदा के लिए आलोकित कर रही है। अकबर जनता के लिए केवल अतीत की कहानी के एक न्यायी बादशाह बन गए हैं। प्रताप की देशभक्ति विद्यालयों में बच्चों को सिखाने की वस्तु बन गई है। पर तुलसी पीढ़ियों से हमारे हृदय, सामाजिक बोध-विचार और हमारी आध्यात्मिक अनुभूति को अपने अमर ग्रन्थों द्वारा उद्योतित कर गए हैं। उत्तर-भारत के हिन्दुओं के मन में अपनी संस्कृति और अपने हिन्दूपन का यदि कुछ भी अभिमान हो, तो उसके लिए उन्हें गोस्वामी तुलसीदास का आभारी होना चाहिए।

गुसाईं तुलसीदास

वैदिक युग के पूर्वकाल से युग-धर्म के अनुसार परिवर्तित होते हुए जो बहुमुख और बहुरूप हिन्दू-धर्म 'सनातन-धर्म' के नाम से आज तक चला आया है, उसकी गति को अपने स्वाभाविक विकास की अनुयायिनी रखने के लिए जिन मनीषियों ने प्रयत्न किया था, गोस्वामी तुलसीदास उन प्रमुखों में से एक थे। प्रवैदिक या प्राग्वैदिक (अर्थात् वेद-पूर्व) धर्म, जो भारत में आर्यों के आने के पहले अनार्य द्राविड़, कोल आदि जातियों में प्रचलित था और जिसे हम 'योगमार्गी आगमात्मक धर्म' कह सकते हैं, भारत में आए और नए बसे हुए आर्यों के वैदिक या निगमात्मक धर्म में सम्मिलित हो गया। आर्य और अनार्य धर्मों के इस गंगा-यमुना संगम से जो मिलित धारा निकली वही प्राचीन हिन्दू-धर्म है। इसकी नई अभिव्यक्ति पौराणिक हिन्दू-धर्म के रूप में हुई, जो वेद और अगम दोनों के आधार पर प्रतिष्ठित हुई और योग, पूजा आदि में जिसका अनुष्ठानिक प्रकाश हुआ। प्राचीन हिन्दू-धर्म में मस्तिष्क तथा हृदय-ज्ञान और भक्ति दोनों का अपूर्व सामंजस्य किया गया। आभ्यन्तर दृष्टि या रहस्यवाद और पूजादि बाह्य लोकाचार का भी उसमें समन्वय हुआ। व्यक्ति और समाज, व्यष्टि और समष्टि, एक और बहु आदि में जो भाव-विषय विरोध था, समाज की प्रजारक्षक विधियों को यथावश्य मर्यादा देते हुए भी उसे दूर करने में इस नवीन निगमागमात्मक हिन्दू-धर्म ने अपूर्व समीक्षा और नीति दिखाई। ईसा के पूर्व के एक हजार वर्षों के बीच जब वेदोत्तर पौराणिक हिन्दू-धर्म की नींव डाली गई, तब उसके सामाजिक और आनुष्ठानिक सिद्धान्तों तथा व्यवस्थाओं के विपक्ष में कई नए आन्दोलन उठ खड़े हुए। आध्यात्मिक तथा दार्शनिक सिद्धान्तों या विचारों में इन नए दृष्टिकोणों से हिन्दू या ब्राह्मण दृष्टिकोण में जो कुछ कम या बेशी विभिन्नता थी, वह ऐसी कुछ लक्षणीय बात न थी; पर सामाजिक सिद्धान्तों और विधि-नियमों में, सिर्फ संन्यास या वैराग्य को संसार में सभी के लिए एकमात्र आदर्श मानकर, बौद्ध भिक्षुओं ने ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य आदि चतुराश्रम को मानने वाले ब्राह्मण्य समाजादर्श पर सख्त हमला किया था। प्रजा-रक्षा के

लिए, आपात दृष्टि से साम्य के विरोधी लगते हुए भी वर्णाश्रम-धर्ममय ब्राह्मण्य समाजादर्श केवल संन्यासादर्श बौद्ध धर्म से अधिकतर उपयोगी था, यह सभी को मानना पड़ेगा। अस्तु, वेद तथा ब्राह्मण्य के विरोधी बौद्ध धर्म ने कई सौ वर्षों तक हिन्दू धर्म या सनातन-धर्म के विपक्ष में काम किया। इससे समाज और संसार में कुछ अनाचार और विश्रृंखल-भाव आ गए। पर सनातन-धर्म धीरे-धीरे पुनर्जाग्रत हुआ। इधर गीता-साहित्य, महाभारत, रामायण और पुराणों का संकलन और बहुल प्रकाशन हुआ, जिससे वेदों से अपना सिलसिला बनाए रखते हुए पौराणिक मतानुसारी नवीन ब्राह्मण्य धर्म या नवीन हिन्दू-धर्म फिर नई शक्ति के साथ प्रतिष्ठित हुआ। उधर सुंग, काण्व और गुप्त वंशों के राजाओं का संरक्षण प्राप्त कर नवीन हिन्दू-धर्म, राष्ट्र का एकमात्र प्रधान धर्म बना। भास, कालिदास, बाण भट्ट, भवभूति आदि महाकवियों ने इस पुनर्जाग्रत हिन्दू-धर्म के आदर्शों को अपने अमर काव्यों और नाटकों में प्रकटित किया। अनुभवी ऐतिहासिकों को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि बौद्ध सामाजिक तथा आध्यात्मिक विप्लव से भारतीय प्रजा की रक्षा करने के महत् कर्म में संस्कृत महाभारत और रामायण ने, पुराणों और कालिदास जैसे कवियों के कृतित्व ने कितनी बड़ी सहायता की थी। इस धर्म-संघात में बौद्ध धर्म के कुछ महत्वपूर्ण मतवाद ब्राह्मण्य धर्म द्वारा गृहीत हुए, जैसे—अहिंसावाद। इससे आध्यात्मिक विचार की दृष्टि से ब्राह्मण्य का महत्व और भी बढ़ गया।

महाभारत, रामायण, पुराण आदि ग्रन्थों के सहारे, कालिदास बाण भट्ट, भवभूति आदि कवियों की वाणी से और कुमारिल भट्ट, शंकराचार्य, माधवाचार्य, रामानुजाचार्य आदि प्रमुख आचार्यों के शास्त्र-विचार से मुसलमानों तुर्कों—पठानों और ईरानियों द्वारा उत्तर-भारत पर चढ़ाई और विजय करने के कुछ पहले ही सनातन हिन्दू-धर्म अपनी नवतम मूर्ति में सुस्थापित हो गया था। तुर्क, ईरानी, और पठान आए और उत्तर-भारत के राजा बन बैठे। उनके साथ ही साथ इस्लाम भी अपने दो रूपों में

प्रकट हुआ, एक तो इसका शरीयती रूप, जिसे फैलाने के लिए मुसलमान-राजशक्ति और पशुबल—ग़ाज़ी और बुतशिकन—नियोजित हुआ और दूसरा इस्लाम का सूफ़ियाना रूप, जिसके प्रचार में लड़ाकू सिपाही या बादशाह का स्थान नहीं था। हिन्दू-रैयत के धर्म के विषय में असहिष्णुता, विरोध और उसके सत्तानाश करने की राह को छोड़ मुसलमान सूफ़ी साधुओं ने सहानुभूति और समझ से काम लिया। भारत में इस्लाम का प्रचार इस्लाम के इस दूसरे रूप के सहारे ही हुआ था। असहिष्णु आक्रमणशील, शरीयती, या कुरानी इस्लाम ने जब अपनी दैहिक शक्ति के साथ हिन्दू-धर्म पर चढ़ाई की, तब उसके परिणाम-स्वरूप हिन्दू-जाति का क्षात्र-वीर्य जागरित हुआ। मुसलमान-राजत्व-काल में राजपूत राजा, बंगाली ज़मीदार, मराठे जागीरदार, सिक्ख गुरुओं के चेले, विजयनगर के तेलुगू और कन्नड़ी नायक, मध्य भारत के गोंड सरदार आदि हिन्दुओं की 'चोटी, बेटी, रोटी,' रक्षा करने के लिए खड़े हुए। आखिर पशुबल को हारना पड़ा। बलात्कार से बहुत कम लोग इस्लाम में शामिल किए जा सके; पर शान्ति की राह से सूफ़ी फकीरों और दरवेशों ने कहीं-कहीं भोले-भाले अशिक्षित, निम्नश्रेणी के हिन्दुओं को इस्लाम की ओर खींच लिया। इन सूफ़ियों में हर तरह के लोग होते थे। उनमें कुछ तो सचमुच पहुँचे हुए साधक थे, जो पार्थिव से निस्पृह थे और अपने साधन-गायन पाठ-जप में मस्त रहते थे। उनके साथ वार्तालाप करते हुए कितने ही अनुभवी हिन्दू विद्वानों या धार्मिकों के भी मन पर सूफ़ी-मार्ग का कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता था—चाहे अनजान में, चाहे सज्ञान भाव में। फिर उनमें मतलबबाज़ लोगों की भी कमी न थी, जिनका उद्देश्य था किसी प्रकार हिन्दुओं को मुसलमान बनाना। अस्तु, तुर्क और पठान-राज-काल में हिन्दुओं को एक बड़े भारी धार्मिक संकट का सामना करना पड़ा। बाहर से हिन्दू-जीवन पर मुसलमान-राजशक्ति का निर्मम आक्रमण हुआ और भीतर से सूफ़ियों ने—इस्लाम के सहारे हिन्दू-धर्म के शत्रुओं ने अपनी ग़ैबी चाल से हिन्दू-

धर्म और समाज का सत्तानाश करने की अतन्द्र चेष्टा की। देश में हिन्दू-राजशक्ति का अभाव, संस्कृत-विद्या की कमी के साथ-ही-साथ जातीय संस्कृति से हिन्दू-प्रजा की विच्युति, आध्यात्मिक तथा राजनीतिक पतन के युग में समाज-नेता ब्राह्मण का भी अपने धर्म-भाव से भ्रष्ट होना और इससे जनता के मन में उनके प्रति विरोध-भाव, इनके अतिरिक्त सूफ़ी-साधना की नई आशिकाना रीति की ओर अशिक्षित और अपनी प्राचीन विद्या से विच्युत लोगों का आकर्षण—इन सब कारणों से हिन्दू-समाज मुसलमान-युग के पहले के कई सौ वर्षों तक पतनावस्था में गिरा रहा।

इस युग के लिए उपयोगी कुछ नए धर्म-मार्ग भी दिखाई दिए। तसव्वुफ़ या सूफ़ी-अनुभूति और दर्शन भारत के लिए एक नई वस्तु न थी। हमारे वेदान्त से उसका कुछ मेल-जोल था। दूसरे, उसकी दृष्टि इन्सानियत की थी, इस्लाम की कट्टर दृष्टि नहीं। फिर सूफ़ी-दर्शन और साधन-मार्ग ज्यादातर व्यक्तियों को ही लेकर थे, समाज से उनका सम्बन्ध उतना नहीं था। उधर शरीयती इस्लाम में व्यक्ति की स्वाधीनता नहीं थी। वह समाज-केन्द्री थी। हिन्दू-समाज की शक्ति कम होती जाती थी, इसलिए बहुत से लोग व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की ओर झुके। व्यक्तिनिष्ठ बौद्ध-मार्ग भारत से मिट चुका था, इसलिए इस समय लोगों को व्यक्ति-निष्ठ और श्रृंखलित समाज की परवा करने वाला सूफ़ी-धर्म ही दिखाई पड़ा। वह कट्टरपन और धर्म के नाम पर अत्याचार से मुक्त था और साथ ही हमारे परिचित वेदान्त के मत से उसका बहुत-कुछ सादृश्य भी था। विभिन्न सम्प्रदायों के भारतीय संन्यास या वैराग्य के साथ सूफ़ी ढंग के ईश्वर-प्रेम को मिलाकर एक नए ढंग का साधन-मार्ग उत्तर-भारत में 'सन्त'-मार्ग के नाम से चल पड़ा। वैष्णव गोपी-प्रेम एवं वृन्दावन-लीला से सूफ़ी-मतानुसारी भक्त-भगवान के आशिक-माशूक-भाव के साथ कुछ सादृश्य होने के कारण ऐसा अनुमान होता है कि राधाकृष्ण के प्रतीक की सहायता से आध्यात्मिक साधन करने वाले प्रेम-भक्त वैष्णव साधकों द्वारा ये नए भाव उत्तर-भारत के हिन्दू-संसार में फैल गए।

सच्चे अनुभवी भक्त के लिए आध्यात्मिक साधनों का ऐसा समन्वय कुछ हानिकर न था, वरन् इससे भारतीय आध्यात्मिक अनुभूति ने एक नए प्रकार की पूर्णता प्राप्त की। कबीर, नानक, दादू-जैसे साधकों की वाणी से यह समन्वय कैसे सार्थक और रसमय हुआ, इसका प्रमाण मिलता है। भारतीय वैदान्तिक 'सोऽहंवाद' और भक्ति का दास्य तथा मधुर भाव ईरान की श्रेष्ठ आध्यात्मिक अनुभूति के रंग में रँग गए। एक अनोखी आध्यात्मिक अनुभूति कबीर और उनके अनुगामियों में प्रकट हुई। यह वस्तु मुसलमान युग की भारतीय-साधना की एक गौरवमय वस्तु है।

पर इसके साथ ही एक ऐसा दृष्टिकोण भी प्रतिभास हुआ, जो सर्वथा अनुमोदन के योग्य न था। यह था इस नए मार्ग का प्रति-सामाजिक रूप। समाज की विधियों को मानने की जरूरत नहीं, प्राचीन विद्या और मानसिक संस्कृति की कुछ भी सार्थकता नहीं, केवल बैठे-बैठे अपने साधन में मस्त रहो, सन्त-मार्ग की ऐसी शिक्षा समाज के लिए हानिकर भी थी—विशेषकर ऐसी अवस्था में, जब समाज के लिए भयंकर संकट आया था और जब चाहिए था व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को छोड़कर ऐक्य (यूनिटी) और संहति (डिसिप्लिन) द्वारा समाज को सख्त और आघातसह बनाने की कोशिश करना। हिन्दू-समाज के धर्म-रक्षक नेता और राजा विध्वस्त हो गए थे। विद्यारक्षक ब्राह्मण स्वार्थत्याग और कष्ट के साथ किसी प्रकार पुरखों से प्राप्त रिक्थ या जायदाद वेदादि संस्कृत-विद्या की रक्षा करते थे; धार्मिक अनुष्ठान, पूजा-पाठ, श्राद्धादि द्वारा प्राचीन सामाजिक संस्कृति को जीवित रखते थे; तीर्थ-यात्रा द्वारा सारे देश में हिन्दूत्व के एके को प्रजा के चित्त में संजीवित रखते थे। ऐसी हालत में केवल वैयक्तिक सहज प्रेम-साधना की आध्यात्यिक वाणी सुनकर समाज-संहति और जाति-रक्षा की तरफ से जनता को खींच लेना, समाज और जाति-प्रेम के लिए, देश के श्रेष्ठ आध्यात्मिक तथा सामाजिक आदर्शों की रक्षा करने के लिए जिनमें आकांक्षा थी, उनको

श्रीरामचन्द्र के चरित्र का महान् आदर्श हमारे समक्ष उपस्थापित किया। चरित्र-गठन में ऐसे आदर्श की उपयोगिता के सम्बन्ध में कुछ कहना फिजूल होगा। वह तो स्वतः प्रत्यक्ष है। श्रीरामचन्द्र का आदर्श हमारे सामने जो विद्यमान है, यह हमारे लिए अहोभाग्य है। हमारी पारिवारिक पवित्रता तथा सुख-शान्ति इस आदर्श के ही कारण अब तक बची हुई है। इसने हमें सत्य की ओर दृढ़ किया है और कायरपन छोड़ सचमुच पुरुष बनाने में पूरी मदद दी है। हिन्दू-संसार में अब जो कुछ पौरुष या वीर्यवत्ता (रोबस्टनेस) है, वह तुलसीदास और उनके सरीखे राम सेवक भक्तों की कृपा से आई है। समग्र उत्तर-भारत में अर्थात् पंजाब से लेकर बिहार तक और हिमाचल से लेकर विंध्य तक जहाँ-जहाँ 'रामचरितमानस' पढ़ा और सुना जाता है, तुलसी प्रचारित श्रुति-अनुगामिनी रामभक्ति के साथ-ही-साथ कर्मी और उपयोगी, उत्साहशील और आत्म-सम्मानयुक्त हिन्दूत्व कायम हो गया है।

महाकवि भूषण ने छत्रपति शिवाजी के सम्बन्ध में कहा था—'शिवाजी न होते तो सुनति होती सब की।' यह प्रशस्ति-वचन गोस्वामी तुलसीदास के सम्बन्ध में भी लागू होता है। यदि उस समय तुलसी हिन्दुस्तान में न होते, तो हिन्दुओं की कायिक सुन्नत न सही; पर मानसिक और आध्यात्मिक सुन्नत तो जरूर ही हो जाती। गोस्वामी तुलसीदास ने धर्म और साहित्य द्वारा लोगों की आत्मिक शुद्धि की। आत्मिक-शुद्धि के सिवा भौतिक उद्योग या उद्यम कभी नहीं हो सकता। मध्ययुग के प्रत्यक्ष और परोक्ष मुसलमान-आक्रमण से हिन्दू-जाति का निस्तार करने, आत्म-मर्यादा, प्राचीन-संस्कृति पर आस्था, संहति-शक्ति प्रभृति समाज-शक्ति के बढ़ाने वाले सद्गुणों पर जाति की आत्मा को पुनः प्रतिष्ठित करने और सच्ची ईश्वर-प्रीति के साथ मानव-सेवा सिखाने के लिए तुलसी ने हिन्दू-जीवन में प्राचीन भारतीय ज्ञान और कर्म का पुनरावतरण कराया। इससे कहा जा सकता है कि सचमुच वाल्मीकि अर्थात प्राचीन भारत का ज्ञान, भक्ति और काव्य-शक्ति तुलसी में अर्थात् मुसलमानी-युग

के हमारे श्रेष्ठ धर्मनेता में अवतरित हुई थी।

तुलसीदास के ग्रन्थों द्वारा हमारा और एक महान् उपकार हुआ है। वह है भाषा के सहारे हिन्दुत्व और हिन्दू-संस्कृति का संरक्षण। तुलसी की कवित्व-शक्ति का विचार-विश्लेषण करने की चेष्टा मैं नहीं करूंगा। ऐसा करना मेरे लिए अनधिकार चेष्टा ही होगी। पर भावों के महत्व के साथ-ही-साथ उनकी भाषा का माधुर्य हमें आनन्द-रस से भर देता है। उनकी अवधी और ब्रजभाषा की शब्दावली की झंकार से हमारा चित्त प्रीति-रस-सिक्त हो जाता है। देवभाषा और लोकभाषा दोनों के ताने-बाने से कैसा अपूर्व धूप-छाँह वस्त्र उन्होंने बनाया। इस भाषा के संस्कृत शब्द कैसे सुन्दर, सरस और सहज भाव से आ जाते हैं, इसमें कुछ भी कठिनाई, कुछ भी पंडिताई, नहीं दीख पड़ती। प्राकृतोत्तर युग में आधुनिक आर्य-भाषाओं में से अवधी को तुलीदास ने जो मर्यादा दी थी, उतनी ऊँची मर्यादा बहुत कम ही भाषाओं को मिली। तुलसीदास की सी ओजस्विनी और मधुवर्षिणी भाषा भारत में और कहाँ मिलेगी? मानों इस भाषा द्वारा मानव चित्त के सबसे उच्च भावों और सुकुमार वृत्तियों का उद्घाटन हो गया। इसकी मिठास कानों के भीतर से प्रवेश कर हमारे प्राण को विह्वल कर देती है। इसी ने अरबी फारसी के आक्रमण से हमें बचाया था। १८वीं सदी से मुसलमानी हिन्दी का जिसे उर्दू कहते हैं, जोर बढ़ा। हिन्दी से संस्कृत और शुद्ध हिन्दी शब्दों को यथासम्भव निकाल कर एक नई भाषा 'उर्दू' उत्तर-भारत में आ गई। उर्दू की चढ़ाई से उत्तर-भारत की प्रजा को मुख्यतः 'रामचरितमानस' की भाषा ने बचाया। लोगों की जिह्वा पर तुलसी की भाषा और मन में तुलसी के भाव अगर सदा के लिए नहीं बस गए होते, तो हमरी भाषा में उर्दूपन के साथ ही साथ हमारा आध्यात्मिक अधःपतन भी हो जाता। अतः संस्कृतशैली की आधुनिक भारतीय भाषा-परम्पराओं में तुलसीदास की संस्कृति को अवश्य उसके योग्य समादर देना चाहिए।

मैं बंगाली हूँ। मैं अपनी बंगाली-जाति के लिए इसे दुर्भाग्य

समझता हूँ कि तुलसी जैसे महापुरुष हमारे प्रदेश में प्रादुर्भूत नहीं हुए। कुछ-कुछ भाषा के पार्थक्य के कारण हम तुलसीदास को विशेष अपना नहीं सके। पुराने बंगला-साहित्य में एक मुसलमान कवि द्वारा किए हुए अनुवाद के रूप में मलिक महम्मद जायसी की 'पदमावत' बंगाली जनता के सामने—१७वीं सदी के द्वितीयार्ध में पेश की गई थी। नाभादास की 'भक्तमाल' का बंगला-अनुवाद हो चुका है। उसी तुलसीदास की जीवन-कहानी ने बंगाली पाठक—विशेषकर वैष्णव-समाज के पाठक—परिचित हुए। पुराने ज़माने में बंगाल में हिन्दी के परिचय की कुछ कमी नहीं थी; पर परिताप की बात है कि तुलसी की ओर बहुत कम लोग आकृष्ट हुए। तुलसी की रचनाओं से परिचित होने का सौभाग्य बहुत देर तक हम बंगालियों को नहीं मिला। पर एक बार परिचय होने के बाद हम उन्हें छोड़ नहीं सकते, हम भी उनके चरणों के दास बन गए हैं। कोई पचास वर्षों के बीच 'रामचरितमानस' के कम-से-कम तीन स्वतन्त्र बंगला-अनुवाद प्रकाशित हुए हैं, जिनमें दो अनुवादों के साथ बंगला-अक्षरों में तुलसी की मूल रचना भी दी गई है। तुलसी के बहुत से नीति और भक्तिमूलक दोहे भी बंगला में चालू हैं। कुछ ऐसे अनुभवी बंगाली सज्जन हैं जो तुलसी-रामायण को बड़े ही चाव से पढ़ते हैं और उनकी विनय-पत्रिका आदि पुस्तकों का भी अध्ययन करते हैं।

तुलसी के चरणों में बैठने का शुभ अवसर मुझे कोई पचीस बरस पूर्व प्राप्त हुआ था, जब मैंने पहली बार 'रामचरितमानस' का पाठ किया था। मैंने उसे भाषातात्त्विक दृष्टि से ही पढ़ना शुरू किया था; पर मेरे पाषण्डी मन पर उसका प्रभाव पड़े बिना न रहा। व्याकरण के सुप-तिङ् भाषातत्त्व का सूक्ष्म विचार, उच्चारणतत्त्व की नुक्ताचीनी आदि सब हृदय के भावोद्वेग से बह गए, अन्तःकरण भर गया और सूखी आँखें आँसुओं से भींग गईं। तब से मैं तुलसी को छोड़ नहीं सका। अपने व्यक्तिगत जीवन में मैंने उनको ऊँचे से ऊँचे आसन पर बिठाकर अपने आपको उनका दास ही माना है।

हिन्दुस्तानी का सबसे प्राचीन व्याकरण

देशभाषा का व्याकरण लिखना भारतवर्ष में कुछ नई बात नहीं। ऋषि पाणिनी ने जब संस्कृत का व्याकरण बनाया तब उन्होंने संस्कृत को देशभाषा में ही लिया था। अष्टाध्यायी में संस्कृत का नाम 'लौकिक' ही बताया गया है। इसके परवर्त्ती काल में प्राकृतों के कई व्याकरण रचे गये, अपभ्रंश की भी आलोचना हुई, इधर संस्कृत ने प्राचीन होने कारण लौकिक पदवी से 'देवभाषा' की पदवी पाई, उधर संस्कृत के सिवा और भाषाओं को ही देशभाषा या चालू बोली समझकर लोगों ने व्याकरणों का सहारा लेकर इनकी चर्चा की। पर प्राकृतोत्तर युग में पंडितों में देश भाषा का आदर कम होता गया; यहाँ तक कि विद्वत्समाज में देशभाषा की चर्चा करने की आवश्यकता भी किसी को प्रतीत नहीं हुई। मुसलमानों के आक्रमण से प्राचीत विद्या के संरक्षण में ही पंडित लोग इतने व्यस्त थे कि देश की चालू बोलियों पर नजर डालने का किसी को अवसर ही न था। संस्कृत और कहीं-कहीं प्राकृत के पठन-पाठन के लिए नए व्याकरण लिखे गये, सैकड़ों टीका-टिप्पणियाँ बनीं पर किसी विद्वान् ने पूर्वी, ब्रज, डिंगल, गुजराती, मराठी, मैथिल ओड़िया आदि भाषाएँ सिखाने का प्रयत्न नहीं किया। मातृभाषा के विषय में अपने सहज तथा साधारण ज्ञान को ही मातृभाषा में कवितादि रचना के लिए लोग काफी समझते थे।

मुसलमान युग में भारतवर्ष की चालू बोलियों पर विदेशी लोगों ने सर्वप्रथम दृष्टि डाली। तुर्की और फारसी बोलने वाले विदेशी मुसलमानों

को आहिस्ता आहिस्ता हिन्दुस्तानी बनना पड़ना, उत्तर भारत में इन्हें दो तीन पीढ़ियों में ही हिंदवी या हिन्दी को मातृभाषा के रूप में स्वीकृत करना पड़ा, तुर्की या फारसी भाषा बोलनेवाले विजेता मुसलमान देश-वासियों से मिलने लगे। उनकी औलादों की नसों में हिन्दुओं का खून बहा। बहुत से हिन्दू मुसलमान बने। मुसलमान होते हुए भी उनके रोम-रोम में हिन्दूपन विराजमान था। इन मिश्रित मुसलमानों में जो शिक्षित तथा कौतूहलप्रिय थे और जिनमें इस्लामी कट्टरपन नहीं था वे फारसी और अरबी की तालीम खतम करके अपने वतन की हिन्दू संस्कृति से आकृष्ट हुए। ऐसे ही विदेशी खानदानों में अमीर खुसरो, अकबर, फैजी, अबुलफजल, खानखाना अब्दुर्रहीम और दारा शिकोह पैदा हुए। भारतीय मुसलान भी अपनी जातीय-संस्कृति से विच्युत नहीं हुए, इन दोनों किस्म के लोगों में भाषा-साहित्य का आदर हुआ, भाषा सीखने का आग्रह दिखाई दिया, और इन्हीं की चेष्टा तथा इन्हीं के उत्साह से मुगल-युग में भारतीय देशभाषा के दो एक व्याकरण बने। मेरे मित्र, शान्तिनिकेतन विश्वभारती के फारसी तथा उर्दू के अध्यापक, मौलवी जियाउद्दीन साहब को किसी भारतीय मुसलमान विद्वान् ने फारसी में लिखे हुए ब्रजभाषा के एक व्याकरण[1] तथा ब्रजभाषा काव्य एवं अलंकार विषयक ग्रंथ का पता बताया, जो औरंगजेब बादशाह के शासन-काल में रचा गया था। आप इस समय इस पुस्तक को प्रकाशित करने का प्रबन्ध कर रहे हैं। पुस्तक निकलने से हमें ईसा की सत्रहवीं सदी के अंतिम भाग के फारसीदां मुसलमानों के व्यवहार के लिए लिखी हुई भाषा-विज्ञान की एक अच्छी पुस्तक मिलेगी, जिसमें दिये हुए ब्रजभाषा के व्याकरण को हम हिन्दी के एक विशिष्ट रूप का सबसे प्राचीन व्याकरण कह सकते हैं।

१—सुनीति बाबू की लिखित भूमिका के साथ यह पुस्तक विश्वभारती से प्रकाशित हुई है।

ब्रजभाषा तथा साहित्य-विषयक फारसी में लिखी हुई पुस्तक का रचना-काल हम नहीं जानते हैं। लेखक ने अपनी किताब में सिर्फ इतना ही कहा है कि औरंगजेब बादशाह के जमाने में यह पुस्तक रची गई। समय शायद सत्रहवीं शताब्दी का अंतिम चरण होगा। पर इसी समय के एक योरोपियन की लिखी हुई हिन्दुस्तानी खड़ीबोली के व्याकरण की एक पुस्तक हमारे समक्ष है, जो हिन्दुस्तानी का सबसे प्राचीन व्याकरण है। ऐसी पुस्तक का विवेचन हिन्दी संसार के लिए कौतूहलोद्दीपक होगा। सन् १८९५ के जनवरी महीने में इटली के रोम नगर की Reale Academia dei Lincei सभा में इटली देशीय पंडित 'सिगोर एमिल्यो तेत्सा' (Signor Emilio Teza) ने इस व्याकरण की ओर आधुनिक विद्वन्मंडली का ध्यान आकृष्ट किया था। भारतीय भाषातत्व के आलोचकों के अग्रणी सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने तदनंतर भारतवर्ष में इस पुस्तक की बात सुनाई। अपने विराट ग्रंथ 'Linguistic Survey of India' के हिन्दी विषयक खंड में ग्रियर्सन साहब ने इस व्याकरण का एक छोटा सा वर्णन और इसके लेखक का कुछ परिचय भी दिया है। (L. S. I., Vol. IX, Part I, पृ० ६—८)।

उपर्युक्त वर्णन पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि सिजोर तेत्सा और ग्रियर्सन साहब इन दोनों महोदयों ने मूल पुस्तक का अवलोकन नहीं किया। पुस्तक तो जोहन जोशुआ केटेलेर (Johan Johsua Ketelaer) की लिखी हुई थी पर प्रकाशित की गई थी हालैंड के लाइडन नगर से सन् १७४३ ईस्वी में 'दावीद मिल वा मिल्लिडस' (David Mill या Millius) नामक एक पंडित द्वारा। केटेलेर हालैंड की ईस्ट इंडियन कंपनी के एलची थे और उन्हें सूरत से दिल्ली, आगरा और लाहौर आना पड़ा था। ग्रियर्ससन साहब का अनुमान है कि सन् १७१५ ईसवी के करीब केटेलेर ने अपना व्याकरण रचा होगा।

हिन्दुस्तानी का सबसे प्राचीन व्याकरण

इंगलैंड में अवस्थान करते समय दावीद मिल या मिल्लिउस द्वारा प्रकाशित केटेलेर की इस दुष्प्राप्य व्याकरण-पुस्तक की एक प्रति मेरे हाथ आई। मैंने उसे एक पुरानी पुस्तकों की दूकान से खरीदा। यह पुस्तक लैटिन में है और इसमें इस्लाम तथा उहूदी धर्मों के विषय में कई प्रबंधों के साथ साथ लैटिन में केटेलेर का हिन्दुस्तानी व्याकरण, फारसी व्याकरण, लैटिन हिन्दुस्तानी फारसी धातुपाठ, लैटिन हिन्दुस्तानी फारसी अरबी शब्दकोष तथा हिन्दुस्तानी के समोच्चारणयुक्त कुछ शब्दों की संग्रह आदि बातें दी हुई हैं। पुस्तक प्रकाशक, मिल ने, अपनी भूमिका में लिखा है कि केटेलेर की पुस्तकें हालैंड की भाषा डच, में थी जिनका स्वयं उन्होंने (मिल ने) लैटिन में अनुवाद किया। मिल अरबी हिब्रू आदि प्राच्य-भाषाओं के पंडित थे और आलैंड की उत्रेख्ट् Utrecht नगरी के विश्वविद्यालय में प्राच्य-भाषाओं के अध्यापक थे।

हालैंड के लाइडन नगर में कर्न इंस्टीट्यूट (Kern Institute) नामक एक नवीन सभा है। वह भारत तथा बृहत्तर भारत की संस्कृति की आलोचना के लिये स्थापित की गई है। उसके मुख्य अधिष्ठाता स्वनामधन्य पंडित डाक्टर फोगल (Dr. J. Ph. Vogel) ने अपने औदार्य से स्वयं हमें एक पत्र लिखकर केटेलेर के व्याकरण के विषय में बहुत कुछ तथ्य बताए हैं। उनसे पता चलता है कि केटेलेर ने हिन्दुस्तानी और फारसी दोनों भाषाओं के व्याकरण डच भाषा में लिखे थे और इस मूल डच पुस्तक की एक नकल इसाक फानदर हूफे (Issac Vander Hoeve) नामक एक हालैंडीय ने सन् १६९८ ईसवी में लखनऊ में की थी। यह नकल आज कल हालैंड के हेग (Hague) नगर के पुराने राजकीय पत्रों के संग्रहालय में संरक्षित है, और मिल ने शायद इसी प्रति से अपना लैटिन उलथा किया था।

अब मैं इस पुस्तक का कुछ परिचय दूँगा। यह व्याकरण वास्तव में एक छोटी पुस्तक है। हिन्दुस्तानी पदसाधन के कुछ सूत्रमात्र उदाहरण के साथ इसमें दिए गए हैं। ४५५ पृष्ठ से ४८८ पृष्ठ तक इन बत्तीस पत्रों

में ही, कुल व्याकरण आ गया है। आज कल इतनी छोटी पुस्तक काफी नहीं समझी जायगी।

पुस्तक आद्यंत रोमन लिपि में छपी है हिन्दुस्तानी शब्द रोमन ही में दिए गए हैं। केटेलेर की मातृभाषा जर्मन थी पर उसने यह पुस्तक डच भाषा में विशेषतया डच लोगों के लिये ही लिखी थी। इसलिये रोमन वर्णों के मुख्यतः डच उच्चारण ही इसमें व्यवहृत हुए हैं। डच भाषा में हमारे परिचित रोमन अक्षरों के उच्चारण में कुछ विशेषता आ जाती है। पुस्तक के प्रथम अनुच्छेद में ग्रंथकार ने Akar Nagari या नागराक्षर के संबंध में कुछ विचार किया है। ग्रंथकार का कहना है कि ब्राह्मणों में एक प्रकार की पवित्र वर्णमाला का व्यवहार है जो विशेषतया Banaras (बनारस) या Kashi (काशी) के विद्यालय में पाई जाती है। साधारण मुसलमान हिन्दुस्तानियों में एक दूसरे प्रकार की वर्णमाला का प्रचलन है जो Akar Nagari 'अक्षर नागरी' कहलाती है। इस उक्ति से ज्ञात होता है कि केटेलेर साहब ने गलती से संस्कृत को भाषा न समझकर लिपि रूप से ही उस पर विचार किया था। ब्राह्मणों में व्यवहृत प्राचीनतम लिपि का नाम उन्होंने देवनागर बताया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि महाराष्ट्रीय ब्राह्मणों में देवनागरी अक्षर बालबन्धु नाम से प्रचलित है। तंगुती या प्राचीन तथा आधुनिक तिब्बती और मंगोल जाति की वर्णमालाओं के साथ हिन्दुस्तान के हिन्दुओं की वर्णमाला बराबरी रखती है। मुसलमानों में फारसी अक्षर प्रचलित हैं। उनका कथन है कि हिन्दुस्तानी भाषा दो प्रकार की है एक Pad+anica (पटनाई) जो Patthena (पटना) शहर के नाम से विदित है और दूसरी Daknica (दखिनी) अर्थात् 'Dhakon', Dhakan या दखन (दक्षिण ?) प्रदेश की।

पुस्तक में वर्णमाला के पाँच चित्र दिए गए हैं प्रथम में नागरी अक्षर (Akar Nagari) नाम से और द्वितीय में 'देवनागरम' (Devnagaram) और बालबन्धु (Balabandu) नाम से।

ऐसे ही तीन दफे नागरी वर्णमाला दी गई है। तृतीय चित्र में प्राचीन और नवीन तिब्बती अक्षर तथा मंगोल अक्षर हैं। इन तीनों चित्रों के अक्षर बहुत खराब हैं। चतुर्थ चित्र में ब्राह्मण वर्णमाला (Alphabetum Brahm:) नाम से फिर देवनागर वर्णमाला और पंचम चित्र में बंगला वर्णमाला हैं। इन दोनों चित्रों की लिपियाँ बड़ी ही सुन्दर हैं। ये अंतिम दोनों चित्र बंगाल से मिले हैं, क्योंकि इनमें वर्णों के साथ-साथ रोमन अक्षरों में जो उच्चारण दिए गए हैं वे बंगालियों के उच्चारण के अनुसार हैं (जैसे 'ङ' वर्ण का नाम दिया है oua—बंगला नाम 'उवाँ' 'ञ' iha अर्थात् ia बंगला नाम "इयाँ" 'ण" ana बंगला आनो, श, ष, स" = Sha,sa, sa ; यदि हिन्दी के अनुसार होती तो Sha, Kha, sa लिखा जाता; क्ष = Kha बंगला "ख्य")। प्रथम चित्र में अक्षरों के नीचे संख्या चिह्न दिए हैं, और इन संख्याओं के अनुसार पुस्तक में अक्षरों के उच्चारण लिखे हैं। प्रथम और द्वितीय चित्र में जो तीन दफे देवनागरी अक्षर लिखे हैं उनके रोमन प्रत्यक्षरीकरण (Roman transliteration) में बहुत कुछ अंतर है। इससे प्रकट होता है कि ग्रंथकार या प्रकाशक ने विभिन्न स्थानों से सोच्चारण नागरी लिपि संग्रह की है।

पुस्तक में नागरी अक्षरों के प्रत्यक्षर इस प्रकार दिये गये हैं—अं = ang, अः gha; क = ka, ष (= ख) ka, ग = ka, घ = dgja, ङ = nia; च = tgja, छ = tscha, ज = dhea, झ = dgja, ञ = nia; ट = tha, ठ = tscha, ड = cha, ढ = dha, ण = nrha; त = ta, थ = tha, द = dha, ध = dh, न = na, प = pa, फ = p'ha, ब = ba, भ = bham, म = ma; य = ja, र = ra, ल = la, व = wa, श = sjang, ष = k'cho (अर्थात् 'ख'), स = ssa. ह = ha, ल = lang, क्ष = k'cha।

आज से ढाई सौ वर्ष पूर्व जिन बेचारे यूरोपीय लोगों ने नागरी अक्षरों की आवाज कान से सुनकर उन्हें अपनी लिपि में प्रकट करने की

चेष्टा की थी, वे कैसी आफ़त में फँसे, 'यह ऊपर के तीन-चार प्रत्यक्षरी' करण से प्रकट होता है। सौभाग्य से लेखक ने हिन्दी शब्दों का इस प्रकार का 'स्पेलिंग' केवल आरम्भ में अक्षरों में ही व्यवहृत किया है। व्याकरण में सरल रोमन स्पेलिंग ही काम में लाया गया है, नहीं तो व्याकरण के हिन्दी-शब्दों को पढ़ना लोहे के चने चबाना हो जाता। अस्तु; हिन्दुस्तानी-उच्चारण के विषय में पुस्तक में कुछ उपदेश नहीं दिया गया है। शब्द-रूप इस प्रकार दिये गये हैं—

Beetha—बेटा शब्द

Nominativus—beetha बेटा—beethe बेटे
Genitivus—beetha ka—beethon ka बेटों का
Dativus—beetha kon बेटा कों—beethon kon बेटों कों
Accusativus—beetha kon बेटा कों—beethon kon बेटों कों
Vocativus—E beetha ऐ बेटा—E beetha ऐ बेटे
Ablativus—beetha se बेटा से—beetha se बेटे से

Boedia—बुढ़िया शब्द

N—boedia बुढ़िया—boedien बुढ़ियें
G—boedia ka बुढ़िया का—boedion ka बुढ़ियों का
D—boedia kon बुढ़िया कों—boedion kon बुढ़ियों कों
Acc—boedia kon बुढ़िया कों—boedion kon बुढ़ियों कों
Voc—E boedia ए बुढ़िया—E boedion ए बुढ़ियों।
Abl—boedia se बुढ़िया से—boedion se बुढ़ियों से

आदमी शब्द

Admi आदमी --admion आदमीओं (आदमियों ?)

Admi ka, ke आदमी का, के—admion ka आदमीओं का ।

Admi kon आदमी कों—admion kon आदमीओं कों ।

e admi ए आदमी —e admion ए आदमीओं ।

admi se आदमी से—admion se आदमीओं से ।

और शब्द—beethi बेटी, बहुवचन में beetia बेटिया (बेटियाँ ?); aandhoe आँड़ (बैल), बहुवचन में aandhoeon आँड़ओं; dsjoeroe जोरू, बहुवचन dsjoeroeon जोरूओं; baab बाप, बहुवचन baabe बापे ; ank आँख, बहुवचन anke आँखे (आँखें ?)—इत्यादि ।

शब्द-रूप में कर्तृकारक और कर्तृकारक के सिवा अन्य कारकों के प्रातिपदिक में पार्थक्य नहीं दिखाया गया है । 'का, के, की' का भेद कुछ नहीं बताया है । सर्वनाम शब्दों के रूप इस प्रकार दिखाये गये हैं—

N. me मैं—ham हम

G. meere मेरे—apre अपरे (=अपणे ? अपने)

D. mukon मुकों, मोकों—hamkon हमकों

Ac. meera मेरा—hammare हमारे

V. e me ऐ मैं—e ham ऐ हम

Ab. mese मैं से (मोसे, मुझसे)—hamse हमसे

N. toe तू—tom तौम्=तुम

G. teera तेरा—tommare तोम्मारे=तुम्हारे

D. teerekon तेरे कों—tomkon तुमकों

Ac. teera—tommare=तुम्हारे

V. e toe ऐ तू—e tom ऐ तुम

Ab. toese तू से—tomse तुम से ।

सर्वनाम के उत्तम और मध्यम पुरुष के कर्म-कारक के रूप 'मुझे' और 'तुझे' कर्मवाच्य क्रियापद के विवेचन में लाये गये हैं।

N. whe वह—inne इन (इन्हें ?)

G. isseka इसका—inneke इनके

D. issekon इसकों—innekon इनकों

Ac. whe वह—inneka इनका •

V. e whe ऐ वह—e inne ऐ इन

Ab. isse इससे—innese इनसे

प्रश्नसूचक सर्वनाम भी दिये गये हैं। kja क्या; kjon, kon क्यों, कौन—ये दोनों व्यक्तिवाचक बताये गये हैं। प्रश्नसूचक सर्वनाम के प्रयोग इस प्रकार हैं—

Kon he कौन है	Kja tajeyte क्या चाहता
Kon he oeder कौन है उधर	Kjon ney क्यों नहीं
Kon dourte कौन दौड़ता	Kis waste किस वास्ते
Kon bolte कौन बोलता	Kjon क्यों (= कैसे)
Kja ghabhar क्या ख़बर	Kitte कित्ता (= कितना)

सर्वनाम षष्ठी विभक्ति से संबद्ध पद स्त्रीलिंग होने से षष्ठी विभक्ति में जो 'ई' प्रत्यय आता है उसका यह उदाहरण दिया है—Meera baab मेरा बाप, teere baab तेरे (= तेरा) बाप; meeri mae मेरी माँ, teeri mae तेरी माँ; hammare bhay हमारा भाई; tommare bhen तुम्हारी बहन; apre goura अपणे घोड़ा; apre maal अपणे माल।

उत्तम और मध्यम पुरुष के सर्वनामों में 'गौरवे बहुवचनम्' सूत्र के अनुसार, अर्थात् आदर प्रदर्शित करने के लिये, जो एक वचन के स्थान में बहुवचन का व्यवहार किया जाता है, उसके रूप इस प्रकार दिये गये हैं—ham हम = nos etiam ego 'हम तथा मैं' दोनों अर्थ में, तद्वत् tom तुम = एक वचन (आदरे) तथा बहुवचन, तैसे ही

hammare, tommare—एक वचन तथा बहुवचन में। पुनः Toe, Tom 'तू, तुम' का पार्थक्य इस प्रकार बताया है—Tom sahab hai तुम साहब है, tom meera sahab he तुम मेरा साहब है, toe tsjeker he तू चाकर है; Toe meera goelam he तू मेरा गुलाम है।

न अर्थक अनुज्ञा में क्रियापद के साथ mat 'मत' अव्यय का प्रयोग दिखाया गया है—mat dsjauw मत जाओ; mat Kauw मत खाओ; doure mat दौड़े मत; Koo mat कहो मत; sooi mat सोए मत।

इस प्रकार सर्वनाम-पर्व समाप्त करके, ग्रन्थकार ने ie, je 'ई' तद्धित के संयोग से विशेषण शब्द किस रीति से भाववाचक विशेष्य बन जाते हैं उसके उदाहरण दिये हैं—

Ghoeb खूब—Ghcebje खूबी
Gosse गुस्सह—Gossie गुस्सी
Duwanna दिवाना—Duwannie दिवानी
Sorauwer जोरावर—sorauwerien जोरावरी
Tsjenga चंगा—Tsjengaie चंगाई
Sacht सख़्त—Sachtie सख्ती
Alla अल्लाह—Allahie अल्लाही

इसके पश्चात् विशेषण-पर्याय है। पहले ही तारम्य का विचार लिखा है—issoe 'इससू' (=इससों, इससे); और sobsoe 'सबसू' प्रयोग द्वारा कैसे हिन्दुस्तानी का काम चलता, यह दिखाया है—

Kalla काला, issoe kalla इससू काला;
Karwa कडुवा, isoe karwa इससू कडुवा;
gerra गहरा, 1ssoe gerra इससू गहरा;
moetha, issoe moetha मोटा, इससू मोटा;
sabsoe ghoeb सबसू खूब; sabsoe kerwa सबसू

कड़ुवा; इत्यादि।

तदनंतर daar, gaar, tsje, wala, dass अर्थात् 'दार, गार, ची, वाला, दाज' प्रत्ययों के योग से कर्त्तृवाचक विशेष्य बनाने की रीति उदाहरणों द्वारा दिखाई गई है—

Carres, carresdaar, कर्ज, कर्जदार;

Darrie darriedaar, दाढ़ी, दाढ़ीदार;

Tsjockje; tsjockjedaar चौकी, चौकीदार;

Kesmet, kesmetdaar खेजमत् (खिदमत्), खेजमतदार;

Toop, Tooptsje तोप, तोपची;

Banduch, Banduchtsje बंदूक, बंदूकची;

Lackri, Lackriwalla लकड़ी, लकड़ीवाला;

Patter, Patter walla पत्थर, पत्थरवाला;

Tier, Tierendaas तीर, तीरंदाज; Dagge, Degge-daas दिक्क, दिक्कदाज।

और, Nischan—nischanberdar निशान, निशानबरदार; तथा sonna—sonnaar सोना, सोनार—दो दो शब्द गलती से 'दार'-प्रत्ययांत शब्दों में शामिल किये गये हैं।

कई 'ई'-कारांत शब्दों के उत्तर स्त्रीलिंग में en 'इन' प्रत्यय होता है, उसके उदाहरण ये हैं—

Dhoobi—dhooben धोबी, धोबिन; Gharadi—Gharaden गरेड़ी (गड़ेरी ?), गरेड़िन; Malie—Malen माली, मालिन; Mootsje—Moctsjen मोची, मोचिन।

आदरार्थ dsjieve 'जीवे' (जी) शब्द का व्यवहार बताया है—

Baab dsjieve बाप जीव; Sahab dsjieve साहब जीव; Bhen dsjieve बहन जीव; Doost dsjieve दोस्त जीव; Doostru (शायद मुद्रण-प्रमाद से doostni हो गया होगा) dsjieve दोस्तनी जीव।

'अमुक' अर्थ में Fallan 'फलाँ' शब्द हिन्दुस्तानी में व्यवहृत होता है, यह भी बताया है।

तदनंतर soe 'सू' और se 'से' post positon या अनुसर्ग से कैसे तारतम्य प्रदर्शित होता है, उसके दो उदाहरण देकर विशेषण-पर्याय समाप्त किया है—Admi gora soe ghoeb he आदमी घोड़ा सू खूब है; Hathi bhel से barra he हाथी बैल से बड़ा है।

इसके बाद, क्रियापद की आलोचना की गई है। अस्तित्ववाचक 'हो' धातु का रूप सबसे पहले दिया गया है। इस धातुरूप में बहुत-कुछ ऐसी विशेषताएँ दिखाई गई हैं जो आजकल की बोली में नहीं दिखाई देतीं। सम्भव है कि बहुत-से प्रयोग या उदाहरण लेखक ने गलती से दिये हों।

[१] Praesens (वर्त्तमान)

Me he मैं है (= हूँ)—Hom hoe हम हू
Toe he तू है—Tom hoe तुम हू
Whe he वह है—Inne hoe इने हू

[२] Imperfectum (अतीत)

Me hoea मैं हुआ—Ham hoee हम हुए
Toe hoea तू हुआ—Tom hoee तुम हुए
whe hoea वह हुआ—Inne hoee इने हुए

[३] Perfectum (अनद्यतन अतीत)

Me, Toe, whe hoee tha मैं, तू, वह हुआ था
Ham, Tom, Inne hoee the हुए थे।

[४] Plusquam Perfectum (समाप्त अतीत)

Me, Toe, who hougea हो गया
Ham, Tom, Inne hougee होगे (= गये)

[५]

एकवचन (तीनों पुरुषों में) hunga हूँगा

बहुवचन (,, ,,) hunge हूँगे

[६] Futurum Secundum (द्वितीय प्रकार का भविष्यत्)

एकवचन (तीन पुरुष) hoonga होवोंगा

बहुवचन (,,) hoonge होवोंगे (= होऊँगा, होवेंगे)

[७] Imperativus (अनुज्ञा)

Toe ro तू रह, Tom roe तुम रहो (?)

[८] Infinitivus (असमापिका क्रिया)

Hoea हुआ, Hoee होइ (= हो ? हुए ?)

इसी प्रकार karna 'करना' धातु के सम्पूर्ण रूप दिये हैं—

Praesens (वर्त्तमान)—Kartae करता, बहुवचन Kerte करते;

Imperfectum—Karta tha करता था, Karte the करते थे ;

Perfectum—Kar tsjockae कर चुका, kar tsjocke कर चुके ;

Perfectum secumdum—Kia किया, बहुवचन में kie किये

(कर्त्तरि प्रयोग माना गया है, अर्थात् क्रियापद कर्त्ता के अनुसार बदलता है, कर्म के अनुसार नहीं)।

Plusaquam Perfectum—Kia tha किया था, Kie the किये थे।

Futurum Secundum—Karrega करेगा, Karrige करोगे।

(ये दोनों प्रकार के भविष्यत् काल कैसे दिये गये हैं, इसका पता नहीं चलता—संभवतः लेखक की भूल से ऐसा हुआ है)।

Imperativus—Toe karro तू करो, Tom karre तुम करें।

Infinitivus—Karre करे, अथवा Karne करने।

ऐसे ही और पाँच धातुओं के रूप भी प्रदर्शित किये गये हैं। यथा—

(१) खा धातु—Kghattae खाता, Kghatte खाते; Kghtta the खाता था, Kghatte the खाते थे; Khoeya खुया = खाया, Khoeye खुए = खाए। दो प्रकार के भविष्यत्—Khaoungae खाऊँगा, Khaounge खाऊँगे; तथा Khavigae खाविगा, Khavige खाविगे। आदेश—Toe, Tom Kau तू, तुम खाओ।

(२) पी धातु—Piethae पीता, piethe पीते; pieethae पिये था, piethe पिये थे (गलती से ऐसा छपा है, असल में—pieta tha पीता था, piete the पीते थे—होना चाहिये) piea पिया, piee पिये; piee tha पिये था = पिया था, pie the पिये थे; भविष्यत् pieonga पीऊँगा, pieonge पीऊँगे। (इस धातु में तथा इसके बाद 'गा' धातु तथा 'हँस' धातु के रूपों में भविष्यत् एक ही प्रकार का माना गया है)।

(३) गाना धातु—(gauna गावना धातु) = gauta गावता, gaija गाइया (गाया); Me gauta tha tsjoeka मैं गावता था चुका; gauonga गावोंगा; Toegau तू गाव, gauwena गावना—इत्यादि।

(४) 'हँस' धातु—haste हँसते; hasta tha हँसता था; hassae, hasse हँसा, हँसे; hassonga हँसोंगा (हँसूँगा); इत्यादि।

इसके बाद पृष्ठ ४७४ पृष्ठ ४८९ तक क्रियापदों के अनेक प्रकार के रूप और प्रयोग दिखाये गये हैं (दृष्टांत-स्वरूप कुछ प्रयोग उद्धृत किये

जाते हैं—Tad me kay tsjoeke तद् मैं खाय चुका; Me nimaas kar tjoekke मैं नमाज़ कर चुका; Me somsjoenge मैं समझाऊँगा; Me dsjievong मैं जीऊँगा; Me tsjets bol tsjoekkha tha मैं सच बोल चुका था; Me lerragha =मैं लड़ेगा; Me kut kaye मैं कट खाया (अतीत कर्त्तरि); Me dsjawaab dia tha मैं जबाब दिया था; Me lechte मैं लिखता; Me tsjop neonge मैं चुप रहूँगा; इत्यादि।

कर्मवाच्य की क्रिया की आलोचना में सर्वनाम misjae 'मुझे' और toesjae 'तुझे' का प्रयोग दिखलाया गया है। यथा—

Misjae peaar karte मुझे प्यार करते; Toesjae pakkertaja तुझे पकड़ता है; तथा—I Kkon poslaute एक कों फुसलावते; Hamkon deelasa deete हमको दिलासा देते; Tomkon dsjellaia तुमकों जलाया; Innekon doente इन्हेकों ढ़ूँढ़ते; Sjad me kappra penne hoeae जद् मैं कपड़ा पहने हुआ; sjad me moeae hoeae जद् मैं मूआ हुआ; sjad toe cerre hoeae जद् तू सड़ा हुआ; sjad whe bea karre hoeae जद् वह ब्याह करा हुआ; sjad ham pokkare hoeae जद् हम पुकारे हुए; इत्यादि।

ईसाई धर्म के कुछ उपदेश और विनय (लैटिन मूल और हिन्दुस्तानी अनुवाद, दोनों में) पुस्तक समाप्त हो गई है। इन उपदेशों की भाषा भी देखने योग्य है—

Dsjoemmaka din tom jaet oor saaf racke, tsjae din tom Ram oor tommare gesmet kasro, wasteke Saatme din he Godda saheb tommare allaka, tad tom mat kam karro, tom oor tommare beetha, oor tommare beethi, oor tommare londi, oor tommare dsjanauwer,

oor tommare moessaffar, we tommare devwaesjae me he, waste tsjae din me Godda asmaan, oor sjimieu benaie, derriauw oor sabke erder he, oor sustaie Saatme din, is waste Sahab saffa rackte, oor inne saat karte.

जुम्मा का दिन तुम याद और साफ राखे, छे दिन तुम काम और तुम्हारे खोज मत करो, वास्ते कि सातमी दिन है खुदा साहब तुम्हारे अल्लाह का, तद् तुम मत काम करो, तुम और तुम्हारे बेटा, और तुम्हारी बेटी, और तुम्हारी लौंडी, और तुम्हारे जानवर, और तुम्हारे मुसाफर, वह तुम्हारे दरवाजा में है, वास्ते छे दिन में खुदा आसमान औ जमीं बनाया, दर्या और सबके अन्दर है; और सुस्ताई सातमी दिन, इस वास्ते साहब साफा रखते, और इन्हें साथ करते।

इस पुस्तक में दी हुई ईसा-मसीह की विख्यात प्रार्थना (Lords' prayer) का अनुवाद इससे पहले ग्रियर्सन साहब की पुस्तक में प्रकाशित हो चुका है।

केटेलेर का हिन्दुस्तानी व्याकरण यहीं पर समाप्त होता है। व्याकरण के सूत्र नितांत संक्षिप्त हैं, पर थोड़ा-सा भाषाज्ञान प्राप्त कराने के लिये काफी हैं। जो केटेलेर ने हिन्दुस्तानी सीखी थी और जिसे उन्होंने दूसरों को सिखाने की कोशिश की थी, उदाहरण और अनुवाद से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह शुद्ध खड़ीबोली नहीं, बाजारू बोली है और विशेषतया बंबई, सूरत आदि दक्षिणी भू-भाग के ढंग की बाजारू हिन्दुस्तानी है। थोड़ी सूक्ष्मता के साथ विचार करने से ही यह बात मालूम हो जायगी। इसकी भाषा चाहे जैसी हो; परन्तु खड़ीबोली के इतिहास की चर्चा करते समय इस व्याकरण की उपयोगिता को सभी विद्वान् स्वीकार करेंगे।

हिन्दुस्तानी व्याकरण के पीछे केटेलेर का फारसी व्याकरण मुद्रित

है (पृष्ठ ४८९ से ५०२ तक) यह हिन्दुस्तानी व्याकरण से भी संक्षिप्त है, और इसमें फारसी शब्द सिर्फ फारसी हरफों में ही दिये गये हैं, रोमन में नहीं। तदनंतर फारसी व्याकरण के शेषांक में लैटिन हिन्दुस्तानी और फारसी के १२६ क्रियापद लिखे हैं। जैसे—

Amo—me piaar karte (मैं प्यार करता)

Decipio.—me deggabasi karta (मैं दग़ाबाज़ी करता)

Bajulo.—me oethoute (मैं उठावता)

Audio.—me sonte (मैं सुनता)

Facio.—me benate (मैं बनाता)

Gusto.—me taskte (मैं चखता)

Pugno.—me koesti karte (मैं कुश्ती करता)

Prodo.—me tsjogglie karte (मैं चुगली करता)

Mentior.—me djoet bolte (मैं झूठ बोलता)

Laetor.—me ghosjaal he (मैं खुश हाल है)

फिर लैटिन-हिन्दुस्तानी-फारसी-अरबी का एक छोटा सा शब्दकोष दिया है, जिसमें करीब ६२५ शब्द हैं (पृष्ठ ५१० से पृष्ठ ५९८ तक)। इस शब्दकोष के अरबी शब्दों पर कुछ टिप्पणियाँ दी गई हैं—पन्नों का आधे से अधिक भाग इसी में लग गया है—अरबी शब्दों के धातुओं के विभिन्न वजन के शब्द और अरबी बाइबिल में इन शब्दों का अवस्थान तथा हिब्रू प्रति शब्द बताये गये हैं। इस शब्दकोष के हिन्दुस्तानी शब्द अलग छपाने के लायक हैं।

अंतिम तीन पृष्ठों में कुछ ऐसे हिन्दुस्तानी शब्द दिये गये हैं जिनके उच्चारणों का अन्तर बेचारे जर्मन और डच भाषी ग्रन्थकार के कान पहचान न सके। जैसे—Baagh (बाग), Bhagh (बाघ), Bag (भाग), Kham (खाम, खंभा), Kaam (काम) Kam (कम), bhaar (बार = दरवाजा), baare (बारह);

haser (हाज़िर), hazaar (हजार), aazaar (आज़ार), hizar (इजार), doo (दे,), d'hooe (धोय), hoea (हुआ), koea (कुवा), noen (नून = नमक), oen (अन), sjoor (ज़ोर), soor (शोर), gullab (गुलाब), sjullab (जुलाब); इत्यादि ।

मैं कृतज्ञता के साथ स्वीकार करता हूँ कि मेरे मित्र श्रीयुत ब्रजमोहन वर्मा (सहकारी सम्पादक 'विशाल भारत') ने इस प्रबंध की भाषा-सबन्धी त्रुटियाँ संशोधित कर मुझे अनुगृहीत किया है ।

भारतीय संस्कृति का सूत्रपात

हम लोग अपनी भारतीय सभ्यता तथा संस्कृति के अति प्राचीनत्व के सम्बन्ध में विशेष रूप से सचेत हैं। प्राचीन इतिहास का जिन्होंने भली भाँति अध्ययन नहीं किया, परन्तु जिन्होंने साधारण शिक्षा पाई है, ऐसी हिन्दू-सन्तान इस बात को स्वतःसिद्ध समझने के अभ्यस्त हैं, कि सारी दुनिया में सभ्यता का प्रथम प्रकाश इस भारतवर्ष में ही हुआ और इस प्राचीनतम सभ्यता का सूत्रपात हमारे आर्य पूर्वजों में हुआ था। जगत में सभ्यता का उद्भव आर्यों की मनीषा का फल है; सभ्यता के कारण जो कुछ कृतित्व मिलता है, वह आर्यों को मिलना चाहिए, और इसके बाद, हम लोग आर्यों के वंशधर हैं, इसलिये हम लोग भी इस कृतित्व के अधिकारी है। हमारी हिन्दू-जाति की अति प्राचीनता के विषय में एक धारणा या संस्कार बचपन से हमारी नसों में जा बैठता है। पुराण की कहानियों में सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—इन चार युगों की बात हम पढ़ते हैं, वह कितने लाख वर्ष की बात है। यदि लाखों वर्षों की बात न भी सही, तो निःसन्देह हजारों वर्ष की बात माननी ही पड़ेगी।

हम लोगों में जिन्होंने थोड़ी-सी आधुनिक शिक्षा को प्राप्त किया है, साधारणतः इस बात को एक प्रकार से मान लिया है कि भारतवर्ष के बाहर किसी एक स्थान से सहस्रों वर्ष पहले आर्य इस देश में आकर बसे, और उसके बाद हिन्दू सभ्यता की प्रतिष्ठा इन आर्यों ने की।

जिनको केवल प्राचीन शिक्षा मिली, अथवा जो प्रायः संस्कृत का ही अध्ययन करते हैं, वे इस बात पर ध्यान देने की कुछ भी आवश्यकता नहीं समझते, या किसी जरूरत को स्वीकार भी नहीं करते;—उनके लिये भारतवर्ष ही आर्य जाति की पितृ-भूमि है,—भारत के बाहर के किसी स्थान से कभी आर्य लोग यहाँ आये, ऐसा सोचना इनके विचार में एक असम्भव कल्पना है। भारत के बाहर से आर्य लोग आये थे या नहीं, इस अवसर पर इस विषय की कुछ आलोचना हम नहीं करेंगे। केवल इतना ही हम कह सकते हैं कि भारत के बाहर ही से आर्यों का यहाँ आगमन हुआ था, ऐसे मतवाद को हम मानते हैं। बाहर से आर्य लोग भारत में आये थे, यह विचार विगत उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग से यूरोप के कई भाषातात्विकों के लेख में प्रकट होने और रूप ग्रहण करने लगा।

इंगलैण्ड में बसे हुए जर्मन पंडित फ्रीद्रिख् माक्स्-म्यूलर ने ही अपने लेखों और पुस्तकों में इस विचार को फैलाया। माक्स्-म्यूलर ने और उनके अनुयायी कई विद्वानों ने ऐसा अनुमान किया कि आज से चार हजार वर्ष पूर्व मध्य-एशिया में आर्य जाति वास करती थी; वहाँ प्राकृतिक विपर्यय या और दूसरी किसी घटना के वश आर्य लोगों का वास करना असम्भव हो गया, इसी से वे पश्चिम और दक्षिण के विभिन्न देशों में फैल गये। उनके कुछ झुंड यूरोप में गये, और वहाँ रूस, ग्रीस, इटली, जर्मनी, फ्रांस प्रभृति देशों में बसे। इन सब देशों के अधिवासी स्लाव, ग्रीक, इटालियन, त्यूतन, केल्त् जाति के लोग इन्हीं के वंशधर हैं। मध्य-एशिया से आर्यों का एक झुंड दक्षिण में आया, वह ईरान में उपविष्ट हुआ, फिर ईरान से उसका कुछ अंश भारतवर्ष में पधारा, इससे भारतीय आर्यों की उत्पत्ति हुई, जिन्होंने वेद के सूक्त रचे, जो कि भारतीय सभ्यता की जड़ हैं। विज्ञान तथा इतिहास के और विचार तथा मतवाद के साथ यह मतवाद भी यथा समय भारतवर्ष में आ पहुँचा, और अंग्रेजी शिक्षित भारतीय लोगों ने बिना प्रतिवाद किये उसे

ग्रहण किया। यूरोप में अंग्रेज और अन्य यूरोपीय जातियों के पढ़े-लिखे लोगों में इस मतवाद की प्रतिष्ठा तुरन्त हुई। संस्कृत प्राचीन ईरानी, अर्मेनी—एशिया-खंड की तीन सुसभ्य जातियों की ये तीन प्राचीन भाषाएँ, तथा यूरोप की प्रायः कुल जातियों की भाषाएँ—यथा ग्रीक, लातीन, प्राचीन स्लाव, अलबानी, केल्त्, त्यूतन—ये सब एक अव-विलुप्त मूल या आदि आर्य-भाषा से उत्पन्न हुईं। विगत उन्नीसवीं शती के प्रथमार्द्ध में तुलनात्मक भाषा-तत्व-विद्या ने इस तथ्य को निरूपित किया। जब एक "आदि आर्य-भाषा मानी गई, तब इसकी बोलनेवाली एक "आदि आर्य-जाति" को भी मानना पड़ा, और साथ-साथ यह भी स्वीकार करना पड़ा किसी प्राचीन समय में कहीं न कहीं यह जाति वास करती थी। जो लोग इस समय विभिन्न आर्य-भाषाएँ बोलते हैं, वे जरूर उन्हीं आदि आर्यों के वंशधर हैं, और वे आजकल दुनिया की सबसे अधिक सभ्य जाति गिने जाते हैं। इसके अलावा, प्राचीन जातियों में हिन्दू, पारसीक, ग्रीक, रोमन इत्यादि आर्यभाषी कई जातियाँ भी सभ्यता के विषय में अत्यधिक उन्नत थीं। आदि आर्य जाति के लोग भी सुसभ्य थे, ऐसा अनुमान करने में आधुनिक आर्य-जातीय अथवा "आर्यम्मन्य" लोगों को कुछ अन्तराय नहीं प्रतीत हुआ। इस "आर्यवाद" को यूरोपीय पंडितों ने आहिस्ता आहिस्ता स्थापित और सुगठित किया। देखा गया कि यूरोप के आधुनिक जातियों के लोग सारे संसार में फैल गये; पुर्तगीज, हिस्पानी, ओलन्दाज, अंगरेज, फ्रांसीसी, जर्मन, स्कान्दीनावियन लोगों ने अफ्रीका, एशिया, अमरीका, आस्ट्रेलिया इन सब महादेशों में सर्वत्र यूरोप की सभ्यता का प्रचार किया; बिना ज्यादा कष्ट उठाये हुए वे लोग उन मुल्कों में अपनी अप्रतिद्वन्द्वी प्रतिष्ठा को खड़ाकर स्थानीय "नेटिव्" लोगों पर आधिपत्य कर रहे हैं,—उन "नेटिव्" लोगों को सुसभ्य बना रहे हैं (यह तो यूरोपीय विजेताओं की कही बात है)—और जब देखते हैं कि "नेटिव्" लोगों की स्थिति अपनी जाति के लिए असुविधा-जनक है, अथवा जब

वैसा करना आवश्यक समझते हैं, तब उनका समूल उच्छेद भी करते हैं—कई देशों में उच्छेद कर भी चुके। वे "आर्यवाद" के मामले पर, "एक ही इतिहास विभिन्न काल में पुनरावृत्त होता है" (History repeats itself) इस अर्ध-सत्य वचन को काम में लाये। इस समय आर्यभाषी लोग जैसा करते हैं, प्राचीन-काल में इनके पूर्वजों ने वैसा ही किया था—इस प्रकार का अनुमान पंडितों ने उपस्थापित किया। इस समय के यूरोपीय आर्य-भाषी लोगों के सदृश, सुसभ्य श्वेतवर्ण सुन्दर कान्ति प्राचीन आर्य लोग अपनी पितृभूमि से फैल गये; नाना असभ्य या अर्ध-सभ्य जातियों के देशों पर जाकर आर्यों ने बिना श्रम के उन्हें जीत लिया, सभ्यता के अलोक से उन्हें जंगली बर्बर अवस्था से उन्नत कर मनुष्य पद-वाच्य बनाया; प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक कारणों से ग्रीस, इटली, भारतवर्ष प्रभृति देशों में नये बसे हुए आर्यों ने नई-नई सभ्यता की सृष्टि की। ऐसा व्यापार विशेषतया भारतवर्ष में हुआ था। इस भारतवर्ष में कृष्णकाय असभ्य जंगली अनार्य लोग रहते थे, इनमें सभ्य जीवन सभ्य चिंतन कुछ भी न था। आर्य लोग आये। वे अनार्यों से बहुत उन्नत थे, यह तो स्वतःसिद्ध बात है कि आर्य लोग उन्हें पराजित कर उनके शासक बन बैठे—और ऐसा तो होना ही चाहिये था। चन्द अनार्य आर्य लोगों के अधिकार में आये, उन्होंने आर्यों को मान लिया, वे आर्यों के अधीन हुए, आर्यों के दास बने, आर्यों ने कृपा करके अपने समाज में उन्हें एक निम्न स्थान दिया, और वे "शूद्र" कहलाये। किन्तु बहुशः अनार्य लोग आर्यों के हाथ मारे गये। और जिन्होंने आर्यों की अधीनता को स्वीकार नहीं किया, वे पहाड़ और जंगल में भाग गये, जहाँ कि इनके वंशज, आजकल के कोल भील-सन्थाल-कुरूँ, गोंड-कन्ध-उराव-मालेर, गारो-बोडो-कुकी-नागा अब तक जङ्गली हालत में रहते हैं। सैकड़ों वर्ष पहले भारत में जो आर्य लोग आर्य थे, वे यूरोप के आर्य लोगों के पूर्वजों के सम्बन्धी थे; इस विचार से, भारत के उच्चवर्णीय हिन्दू, जो कि अपने को विशुद्ध आर्यवंशीय सोचकर मन ही

मन अभिमान रखते हैं, अंगरेज और दूसरे यूरोपीय गण के स्वगोत्रीय बने—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये सब अंगरेजों के दूर-सम्पर्कीय हम-नस्ल या सम्बन्धी सिद्ध हुए। ऐसी बात भारत के उच्चवर्ण के लोगों को बुरी न लगी (यह भी याद रखना चाहिये कि उच्चवर्णीय हिन्दू सबसे पहले अंगरेजी पढ़ने लगे)। ऐसा प्रतीत होता है कि अंगरेज लोग, जो भारत पर शासन करते थे, हम उन्हीं के समान हैं, क्योंकि हम उनके समवंशज हैं,—इस विचार से उच्चवर्णीय हिन्दुओं के मन के निभृतकोण में आनन्द का हिल्लोल-सा बहा। पर इस मनोभाव को स्पष्ट भाषा में जाहिर कर भारतीय जातीय आत्म-सम्मान-बोध पर डंडा मारने को कोई तैयार न था। अंगरेजों ने भी इस सम्पर्क को किसी प्रकार से मान लिया, और भारतवर्ष के ब्राह्मण तथा और उच्चवर्ण के हिन्दुओं को (और उनके अनुगामी निम्नश्रेणी के हिन्दू लोगों को भी), Our Aryan brother the wild Hindu ऐसी आख्या देकर उनकी पीठ ठोंकी; और अंग्रेजों की तुच्छता-बोधमिश्र इस उदारता से हमारे बहुत से लोग आनन्द से लोट-पोट हो गये।

हमारी हिन्दू जाति विभिन्न जातियों के मिश्रण का फल है। प्राचीन काल में अनुलोम प्रतिलोम विवाह-द्वारा यह संमिश्रण हुआ था। इसके पश्चात्, तुर्कों के भारत-विजय के उत्तरकाल से, जातिभेद की कठोरता आ गई, संमिश्रण पूरा नहीं हो सका। इसका परिणाम यह निकला कि हिन्दुओं के विभिन्न समाज या सम्प्रदायों में एक प्रकार का स्वातन्त्र्य-बोध रह गया; कहीं-कहीं नई तौर से यह स्वातन्त्र्य-बोध आ गया; विभिन्न श्रेणियों में एक अबाध Sympathy या अनुकम्पा का अभाव नवीन रूप से प्रकट हुआ। अनुकम्पा का यह अभाव आधुनिक हिन्दू-संसार का सबसे बड़ा अभाव है। हम स्वातन्त्र्य या पार्थक्य-बोध के फलस्वरूप जो अपने आर्यत्व का अभिमान रखते हैं ऐसे उच्चवंशीय हिन्दुओं के मन में आभिजात्य-बोध भी और सुदृढ़ हुआ, यूरोप से लाई हुई अनार्य-जयी आर्यों की कल्पना ने उसे सहायता दी।

इस दुखद ढंग से हिन्दू-सभ्यता के सूत्रपात का इतिहास तैयार हुआ। कृष्णवर्ण कुत्सितकाय असभ्य बर्बरअनार्य जाति स्मरणातीत काल से इस देश में रहती थी। इस जाति का धर्म निहायत निम्नस्तर का था, इसकी रीति और नीति क्रूर थी। गौरवर्ण सुसभ्य आर्यों ने आकर इसे जीत लिया। आर्यों के हाथ हिन्दू सभ्यता का प्रारम्भ हुआ। पहले युग के आर्यों की देवताओं की आराधना को अवलम्बन कर वेद-संहिता बनी; इसके उत्तर काल में उन्हीं की देवताओं की कथाओं पर पुराण ग्रन्थ बने। रामायण, महाभारत और पुराण आर्य राजाओं की पौराणिक कहानी सम्बन्धी पुस्तकें हैं। अनार्य लोगों का धर्म और धार्मिक अनुष्ठान एक आध ग्राम्य अनुष्ठान या आख्यान के मध्य किसी प्रकार थोड़ा-सा रह गया।—निम्न जातियों में प्रचलित पूजा-पद्धति और देवता-वाद में नष्ट-प्राय अनार्य-धर्म चाहे कहीं आत्मगोपान करके रहता हो, परन्तु इसके कुल चिह्न आर्य सभ्यता की बाढ़ के सामने मिट गये।

इस समय अनार्यों के सम्बन्ध से भारतवर्ष में, विशेष करके उत्तर भारत में, एक प्रकार की घृणा का भाव आ गया है। "अनार्य" शब्द ही इसके लिये बहुत अंश में उत्तरदायी है। यदि "अनार्य" शब्द केवल "अन्-आर्य" अर्थात् "जो आर्य नहीं, या आर्य-जाति-सम्पर्कित नहीं" इस अर्थ में प्रयुक्त होता, तो कुछ बात न थी। परन्तु "अनार्य" शब्द का "घृण्य, नीच" ऐसा अर्थ संस्कृत-युग से आ जाने के कारण, यह शब्द केवल जाति-वाचक या संस्कृत-वाचक न रहा, यह मानसिक तथा नैतिक अपकर्ष-वाचक हो गया। इस समय हमारे आर्यावर्त्त में हिन्दुओं की सब जातियाँ आर्यावर्त्त का दावा सामने रख रही हैं—सब जातियों का मत है कि वे आर्य—द्विज—हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, या वैश्य—वे शूद्र नहीं, अनार्य नहीं। हिन्दुओं के समस्त समाज समान द्विज हों, आर्य हों या अभिजात हों, अपने को उच्च समझ यथार्थ रूप से उच्च रहने की शक्ति को प्राप्त करें—आर्यानार्य सब ही के लिये हम यह हार्दिक कामना करते हैं।

आर्यों की श्रेष्ठता के विरुद्ध प्रश्न उठना ही आजकल हिन्दू जाति में Haresy या पाखण्डोचित मनोभाव-प्रसूत चिन्ता का फल समझा जायगा। आर्य लोग पृथ्वी की प्राचीनतम सभ्य जाति न थे, ऐसी बात कहना, या ऐसी बात का इङ्गित करना, पितृ-पुरुष की निन्दा करना जैसा या स्वाजाति-द्रोहिता जैसा महापातक है—इस प्रकार का मनोभाव, बहुत से हिन्दुओं के मन में ज्ञान से या अनजान से परिव्याप्त है। पर हिन्दू के मन में "सत्यानुसन्धित्सा" (अर्थात् सत्य निरूपण की अभिलाषा) भी सदा जाग्रत रहती है। हमारे विचार में तीन मनोभाव हमारी हिन्दू-संस्कृति की जड़ हैं—समन्वय सत्यानुसन्धित्सा और अहिंसा। हमारी जाति को अतीत जीवन में जो कुछ आध्यात्मिक तथा आधिमानसिक उत्कर्ष मिला, इसी सत्यानुसन्धित्सा की बदौलत। हमारी सत्यानुसन्धित्सा-रूप मनोवृत्ति अभी तक सम्पूर्ण रूप से विनष्ट नहीं हुई। इसी से, सत्य की खोज के कारण अगर कुछ संस्कार-विरुद्ध विचार हिन्दू-सन्तान के समक्ष प्रकट किये जाँय, तो चाहे पहले-पहल प्रचलित संस्कार पर कुछ आघात भले ही लगे, परन्तु साधारण हिन्दू प्रस्तुत मामले को अच्छी तरह से समझना चाहता ही है—नूतन तथा सम्पूर्ण रूप से अनपेक्षित होने के कारण ही प्रस्तावित विचार से घृणा नहीं करता और न अन्त तक उससे विमुख हो रह जाता है।

आर्यभाषा संस्कृत का स्थान भारतवर्ष में आर्यों के एकाधिपत्य के पक्ष में प्रबलतम तर्क स्वरूप है—समग्र हिन्दू-शास्त्र इस आर्य भाषा में ही में निबद्ध हैं। उत्तर भारत में इस समय एक ही आर्य-भाषा (पंजाबी, हिन्दी, बिहारी, बंगला, आदि) प्रचलित हैं। आर्य एकाधिपत्य के विषय में यह दूसरा प्रबल तर्क है। इसके अतिरिक्त संस्कृत शास्त्र के—वेद के न हों, पुराण के सही—मत के अनुसार हमारा इतिहास भारतवर्ष में अनादि काल से धारावाहिक रूप से चला आया है—अनादि काल से यदि न माना जाय तो भी अतिशय प्राचीन काल से तो है ही। भाषा-गत और साहित्य-गत इन दो तर्कों ने हमें सबसे

अधिकतया "आर्यवाद"—ग्रस्त बना रखा है।

इन तर्कों के प्रतिपक्ष में कई युक्तियाँ हैं, जिनमें मुख्य ये हैं—दाक्षिणात्य तथा दक्षिण भारत में सुसभ्य अनार्य भाषा का अस्तित्व। संस्कृत-समेत उत्तर भारत आर्यभाषाओं में ओत-प्रोत भाव से विद्यमान अनार्य-भाषा का प्रभाव, ख्रीष्ट-पूर्व चतुर्थ शतक के पूर्वकालीन समय के आर्यभाषी हिन्दुओं की संस्कृति के निदर्शन न मिलना। भारत के बाहर आर्य जाति का इतिहास और पृथिवी के और प्राचीन स्थानों के इतिहास से भारत के इतिहास का संयोग।

तामिल भाषा अपने विराट् और प्राचीन-साहित्य के साथ दक्षिण भारत में खड़ी है,—यही भाषा द्राविड़ों की स्वतंत्र सभ्यता का एक अनपनेय निदर्शन है, जिसने आर्य-सभ्यता के सामने सम्पूर्णतया आत्म-बलिदान न किया। वैदिक-भाषा भारत की आर्य-भाषा का प्राचीनतम निदर्शन है, इस भाषा में प्राचीन आर्यपन विशेषता वर्तमान है। पर इस वैदिक-भाषा में भी अनार्य भाषा का प्रभाव थोड़ा सा विद्यमान है। इसके अतिरिक्त, जितना इधर हम आते हैं, आर्य-भाषा (संस्कृत और प्राकृत) पर अनार्य-भाषा का प्रभाव उतना ही बढ़ता जाता है। धीरे-धीरे आर्य-भाषा को अनार्य-भाषा के अर्थात् कोल-द्राविड़ के साँचे में ढाल दिया गया, आर्य-भाषा ने धीरे-धीरे अनार्य-भाषा के घर में अपनी जाति का सत्यानाश किया, इतना समझने में देर नहीं लगती।

दूसरी बात यह है कि हमें रामायण, महाभारत और पुराणों में बड़े-बड़े राजाओं के नाम मिलते हैं, एक प्रौढ़-सभ्यता का पता भी हमें इन ग्रन्थों से चलता है। परन्तु रामायण, महाभारत और पुराण के युग की (अर्थात् कम से कम तीन चार हजार वर्ष पूर्व के हिन्दू युग की) पुरानी इमारतें, हाथ के काम, शिल्प के निदर्शन, ये सब कुछ भी नहीं मिलते। केवल कई हजार वर्ष के 'पुराण' और "इतिहास" की कहानियाँ हमारी प्राचीन हिन्दू-संस्कृति के अस्तित्व की एकमात्र प्रमाण-स्वरूप विद्यमान है। इस साहित्यिक आधार के सिवा दूसरा आधार,

जिसे हम "पत्थरिया आधार" कह सकते हैं, हमारे पास मौजूद नहीं। क्या मौर्य-युग की पूर्व-कालीन हिन्दू-सभ्यता के निदर्शन कुछ भी नहीं हैं? मिस्र, बाबुल, असीरिया, लघु एशिया, क्रीट द्वीप—इन सब स्थानों में अब से तीन चार-पांच हजार वर्ष पूर्व की वस्तुएँ मिली हैं। भारतवर्ष में मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा जो नगर के खंडहर और अन्य वस्तुएँ मिली हैं, वे सचमुच चार या पाँच हजार वर्ष पहले की हैं। परन्तु वे आर्य-जातीय लोगों के हाथ के काम नहीं—जो पंडित इस विषय पर अनुसन्धान कर रहे हैं, उनका विचार तो यही है। इसके अतिरिक्त भारत के बाहर रहनेवाले आर्य जातीय लोगों के इतिहास पर विचार करना है। सबसे पहले अपनी आदि वास भूमि से निकलकर इतिहास के क्षेत्र पर (अर्थात् और जातियों के साथ मिलन या संघर्ष में) किस समय आर्य लोग पधारे, उसका कुछ पता अब चल रहा है। यह तो अब केवल चार या साढ़े चार हजार वर्ष की बात है। इसी समय ग्रीस या उत्तर-पूर्व एशिया-माइनर में आर्यों से हमारी पहली भेंट होती है। इस घटना के बहुत काल बीतने के पश्चात् आर्य लोग भारतवर्ष में आये। हमारे विचार से, भारतवर्ष से आर्य लोग बाहर के देशों में गये, ऐसे अनुमान के पक्ष के तर्क वैसे प्रबल नहीं। शेष बात यह है—भारतवर्ष के इतिहास को और देशों के इतिहास से अलग या विच्छिन्न कर देखना ठीक नहीं। प्राचीन काल में पारस्य, बाबिल देश तथा एशिया माइनर इत्यादि देशों से भारतवर्ष घनिष्ठ सम्बन्ध-सूत्र से बँधा हुआ था। उन देशों के साथ जो योगसूत्र भारतवर्ष का था, वह प्राचीन भारत के इतिहास के विवेचन में हमारा एक प्रधान अवलम्बन है। उसे छोड़ने से हमें कुछ लाभ न पहुँचेगा। ग्रीस प्रभृति विभिन्न देशों में, विभिन्न प्रकार की संस्कृतियों और जातियों के लोगों के मिश्रण से किस प्रकार एक नवीन जाति और नवीन संस्कृति, सृष्टि हुई, हमारी हिन्दू जाति तथा हिन्दू-संस्कृति की सृष्टि की आलोचना करने के समय उस विषय पर भी हमें ध्यान देना चाहिये।

भारतीय संस्कृति का सूत्रपात

कैसे हिन्दू सभ्यता का सूत्रपात आरम्भ हुआ, और अपने पूर्ण रूप या पूर्ण वैशिष्ट्य को प्राप्त करने के पश्चात् हिन्दू-सभ्यता कब "स्वे महिम्न" खड़ी हुई, इन विषयों पर जो मतवाद हमारे विचार में धीरे-धीरे प्राचीन भारतीय संस्कृति के आलोचक पंडितों में साधारणतया स्वीकृत होता जाता है और अन्त में जिसे सब ही स्वीकृत करेंगे, मैं अब उसका कुछ दिग्दर्शन कराने की चेष्टा करूँगा। इस विषय को a pasteriori रीति के (अर्थात् परिचित तथ्य के आधार पर अनुमान) प्रकट न करके, a priori रीति से (अर्थात् इतिहास-वर्णन के ढंग से), पौर्वापर्य अनुसार पुनर्गठित रूप की वर्णना करके कहूँगा।

इस समय से पाँच हजार वर्ष पूर्व, लगभग २००० ईस्वी पूर्व के आस-पास, मध्यम या पूर्व यूरोप के किसी अंश में आदि आर्य जाति वास करती थी। अपनी पितृ-भूमि में आर्य लोग सभ्यता के उच्च-स्तर पर पहुँच न सके। वास्तव में ये लोग प्राचीन काल की सुसभ्य जातियों के बहुत पीछे ही थे। पर इनमें बहुत से मानसिक और नैतिक गुण थे, ये लोग एक साथ कृतकर्मा तथा चिन्ताशील, कल्पनाशील तथा दृढ़व्रत जाति थे, और आपस में संघबद्धता का भाव भी यथोपयुक्त था; फिर यह अनुमान होता है कि स्त्री-जाति के विषय में इनमें कुछ ऐसी उच्च धारणायें थीं जो आजकल की सभ्यता में भी विद्यमान हैं। आर्यजाति में कई कबीले या गोत्र थे, इन गोत्रों में इनकी मूल-भाषा के कुछ-कुछ पार्थक्य आ गये। यह आर्य-जाति किन्हीं कारणों से अपनी पितृ-भूमि छोड़कर पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में चले जाने को बाध्य हुई, देश में अत्यधिक सर्दी का आकस्मिक प्रभाव इसमें एक कारण हो सकता है और यह भी सम्भव है कि पूर्व और उत्तर से उराल-अलताई जाति के लोगों ने आर्यजातियों पर चढ़ाई की, इससे इन्हें अपना प्राचीन वास-स्थान छोड़ना पड़ा।

जिस समय आर्य लोग, ईसवी सदी के लगभग २००० वर्ष पूर्व, पहले अपने देश में थे, और कुछ खेती का काम तथा कुछ गो-मेषादि-

पालन इनकी मुख्य वृत्ति थी, उसी समय पृथ्वी के कई अन्य भागों की सभ्यता विशेष ऊँची थी। इनमें पहली थी मिस्र की सभ्यता, जिसका प्रारम्भ ईसवी साल के पूर्व ४ हज़ार से अधिक वर्ष से था, और जिसकी जड़ और भी प्राचीन है। दूसरी—बाबिल और असीरिया की सभ्यता, जो मिस्र से समानता करती है और इन दोनों से भी अलग एशिया-माइनर और यूनान की प्राचीन सभ्यता है। विविध प्रकार के ज्ञान-विज्ञान, बड़ी-बड़ी इमारतें और बड़े-बड़े देव-मन्दिर, वाणिज्य, युद्ध-विग्रह, विजयगाथा, देवतावाद और पुराण-कहानी, पुरोहित श्रेणी, भास्यकर्य, मूर्तिशिल्प, चित्रविद्या, शिलालेख, मृण्मय लेख, धातु-निर्मित और मृण्मय पात्र इत्यादि विषयों के सहारे इन सभ्यताओं ने रूप ग्रहण किया, आदिम अवस्था के आर्यों में ये सब कुछ न थे—यहाँ तक कि इनमें शिल्प-विद्या-विषयक जागृति भी न हो सकी। जब आदिम आर्य लोग अपनी पितृभूमि में थे तब उन्होंने एक विशेष उपयोगी साधन संग्रह किया—वे घोड़े को अपने वश में लाये। घोड़े पर सवार होकर, या दो पहियेवाले रथ पर चढ़कर दूर-दूर देश तुरन्त अतिक्रम करने का एक उपाय उन्होंने आविष्कार किया। इस आविष्कार का एक फल यह हुआ, कि आर्य लोग जब पहले-पहल इतिहास के रङ्ग-मञ्च पर उतरे, तब पार्थिव-सभ्यता में अर्द्ध-बर्बर होते हुए भी, सुसम्बद्ध, सात्माभिमान, कर्मशक्तियुक्त तथा भावना-शक्ति-युक्त होने के कारण आसिरीय-बाबिल, एशिया-माइनर और ग्रीस की सुसभ्य जातियों के लिये इन्हें रोकना कठिन काम हो गया। ईसा के लगभग २,००० वर्ष पहले, आर्य-जाति इतिहास के क्षेत्र पर (अर्थात् अपनी पितृ-भूमि के बाहर दूसरी जातियों के देशों में) सर्वप्रथम दिखाई दी। इनके आगमन का समाचार हमें प्राचीन असीरिया और बाबिल, प्राचीन एशिया-माइनर और प्राचीन यूनान में मिलता है। इस समय भारतवर्ष की अवस्था कैसी थी, यह हम ठीक-ठीक नहीं जानते। निःसंदेह उस समय द्रविड़ी और कोल (आस्ट्रिक = दक्षिण) श्रेणी के अनार्य लोग, उत्तर-भारत में गंगा और

सिन्धु के तीर पर तथा दक्षिण भारत में, अपने जीवनाचार को स्थापित करके शान्त-भाव से दिन बिताते थे। इनमें आर्य लोग की, जो अब तक कई झुंडों में विभक्त हो चुके थे और इन विभिन्न झुंडों में कुछ-कुछ भाषा-गत पार्थक्य भी आ गया, एक शाखा एशिया-माइनर में बसी जो कि अब "हित्ती" Hittite नाम से हमारे यहाँ प्रख्यात है। भाषा-तात्त्विक लोग इनकी भाषा का (जिसे पंडितों ने पढ़ा है) विवेचन करके ऐसा विचार करते हैं कि हित्ती शाखा के आर्य लोग सबसे पहले आदिम आर्य-संसार से विच्छिन्न हुए, और एशिया-माइनर में आकर बसे. वहीं स्थानीय जातियों में सुप्रतिष्ठित होकर उनके शासक बने। हित्ती लोगों की आर्य बोली में मूल आर्य-भाषा की कुछ ऐसी विशेषताएँ संरक्षित थीं, जो कि दूसरी प्राचीन आर्य बोलियों में भली भाँति नहीं मिलतीं (देखिए—एड्गर एच० स्टर्टेवेंट—ए कॉम्पैरेटिव् ग्रामर ऑव दि हिहाइट लैंग्वेज, लिंग्विस्टिक सोसायटी ऑव अमेरिका, फिलाडेल्फिया, १९३३, पृष्ठ २६-३२, तथा अन्यान्य पृष्ठों पर दिये विचार) ईसा के पूर्व द्वितीय सहस्रक के मध्य-भाग में हित्ती लोग एशिया-माइनर में राज्य करते थे, निश्चय ही इसके कुछ शतक पूर्व वे वहाँ आये होंगे। ईसा के दो सहस्र वर्ष पूर्व, आर्यों के झुंडों का पता हमें चलता है। पहला ग्रीस-विजयी आर्यों का, जो ग्रीस की प्राचीन सुसभ्य अनार्य जाति के साथ संघर्ष में आये। दूसरा एशिया-माइनर के हित्ती आर्यों का, जिनके विषय में ऊपर कुछ कहा गया है और तीसरा पूर्व के आर्य लोगों का, जो ईसा के पूर्व लगभग २,४०० वर्ष से उत्तर-इराक, असीरिया और बाबिल देश में आते थे। इन तीनों श्रेणियों के आर्यों में कुछ भाषागत पार्थक्य दिखाई देता है। अतः मूल आर्य-भाषा का परिवर्तन और विभिन्न रूप-ग्रहण का कम से कम ईसा के पूर्व तीसरे सहस्रक के प्रथमार्ध से आरम्भ हुआ।

ऐसे कुछ कारण हमारे समक्ष अब भी दीखते हैं, जिससे हमारी सभ्यता की उत्पति के इतिहास को मध्य-एशिया के सम्पर्क से छुड़ाना

पड़ेगा। जो आर्य भारतवर्ष की ओर चले, वे उत्तर-मेसोपोतामिया की राह से आये;—ऐसा आभास हम पाते हैं। मध्य-एशिया में आर्य पितृ-भूमि का अवस्थान निश्चय करने की सामग्री कुछ नहीं है, यह तो केवल कल्पनाप्रसूत ही है। मेसोपोतामिया से सम्पर्क के सम्बन्ध में कुछ प्रमाण मिलने के पश्चात्, मध्य-एशिया की बात काल्पनिक सिद्ध हो जाती है। जब से आर्य लोग उत्तर-मेसोपोतामिया में सर्वप्रथम प्रकट हुए, तब से उनके सम्बन्ध में बाबिल देश और असीरिया के लोगों ने जो कुछ कहा, वह ही आर्य लोगों के विषय में सबसे प्राचीन समसामयिक उल्लेख है। इनकी कही हुई बातों से ऐसा प्रतीत होता है कि सुसभ्य असीरीय, बाबिलेनीय तथा एशिया माइनर की जातियों के मध्य आर्य लोग जब आये, वे चाहे कृष्ण-सागर के उत्तर तीर की राह लेकर उत्तर से काकेसस पर्वत अतिक्रम करके आये हों, या चाहे उत्तर ग्रीस के मकदूनिया और थ्रेसिया की राह होकर कृष्ण सागर के दक्षिण तीर के रास्ते एशिया-माइनर और मेसोपोतामिया में आए हों। बहुत से झुंडों में नवागत आर्य लोग पधारे। इनके कुछ गोत्र उन सब स्थानों पर रहते थे और अन्त में वहीं बस गये। इन्होंने स्थानीय जातियों के मध्य अपने लिये एक गौरवान्वित स्थान कायम कर लिया, और ये कहीं-कहीं स्थानीय लोगों को जीतकर उनके शासक बने, यहाँ तक कि आर्य आगन्तुकों के एक झुंड ने (जिसके गोत्र का नाम था Kashshi या Cassite—शायद आर्य भाषा में इस शब्द का रूप "काशि", "काश्य" हो) बाबिल नगरी पर दखल कर कई सदी तक वहाँ राज्य किया। जो आर्य गोत्र वहाँ रह गये, वे धीरे-धीरे उस देश के लोगों से मिल गये और उन्होंने उसकी भाषा को ग्रहण कर अपने स्वतंत्र अस्तित्व को विलुप्त कर दिया। परन्तु इन आर्यों के राजा या मुखियों के नाम, इनके देवताओं के नाम और इनकी भाषा के दो-चार शब्दों से पता चलता है कि इनकी भाषा कैसी थी। इन सब आधारों से, खीस्ट-पूर्व २००० से १२०० तक मेसोपोतामिया और उसके आस-पास बसे आर्यों की हालत का कुछ पता

भी हमें चलता है। ये आर्य ही इस प्रान्त में सबसे पहले घोड़े को लाये। जो भाषा इनमें बोली जाती थी, वह वैदिक और प्राचीन ईरानी इन दोनों की जननी थी। अपितु, इनका जो धर्म था, और जिन देवताओं की अर्चना ये लोग करते थे, उनके सम्बन्ध में जो समाचार हमें मिलते हैं उनसे प्रतीत होता है कि इन्हीं का धर्म, तथा इन्हीं का देवता-लोक भारतवर्ष में पहुँचकर वैदिक धर्म तथा वैदिक देवता-लोक में परिवर्तित हो गया। सचमुच मेसोपोतामिया और एशिया माइनर वाले आर्य लोग प्राग्वैदिक या वेद-पूर्व आर्य थे। भारतीय वैदिक धर्म का सूत्रपात इन्हीं के तथा पारस्य की ओर चले हुए दूसरे आर्यों के मध्य हुआ था। और यह बात भी सम्भव है कि मेसोपोतामिया तथा पारस्य में, ये आर्य लोग अपने देवताओं के विषय में स्तोत्र या भजन बनाते थे, उन सब स्तोत्र या भजनों में से कुछ-कुछ अंश भारतवर्ष तक पहुँचे। भारतवर्ष में नये बनाये हुए और स्तोत्रों के साथ ये पुराने स्तोत्र (जो कि ईसा के पूर्व लगभग २००० या १८०० या १५०० में बनाये गये) भारतीय द्विज, ऋषि या अनार्यों से ईसा के पूर्व लगभग १००० या ६०० में आद्य ब्राह्मी लिपि में लिखित हुए, और "व्यास" नामक किसी ऋषि के द्वारा तीन संहिता-ग्रन्थों में संग्रहीत और संरक्षित हुए।

वेद के पूर्व के युग के इन आर्यों के कुछ नाम और उनकी भाषा के कुछ शब्द अब दिये जाते हैं। ये नाम तथा शब्द बाबिलीय तथा एशिया-माइनर की प्राचीन भाषाओं में गृहित होकर रक्षित हुए। स्थानीय अनार्य भाषाओं में इन प्राचीन आर्य शब्दों का रूप तथा उच्चारण ज्यों का त्यों संरक्षित नहीं हो सका। इनके मूल-रूप जो कि हिन्दू-ईरानी-युग की आर्यभाषा में चालू थे, तथा इनके भारतीय वैदिक भाषानुमोदित प्रतिरूप, बहुत विचार और अनुमान कर निर्धारित किये गये हैं।

देवताओं के कुछ नाम यथा

१—Shuriash = वेद-पूर्वीय आर्यभाषा में, Surias, वैदिक "सूर्यः"।

२—Maruttash = वेद-पूर्व, Marutas, वैदिक "मरुतः"।

३—Shimalia = "उज्ज्वल (अर्थात तुषार-धवल) पर्वत धिष्ठात्री देवी" = वेद-पूर्वीय, Z'himala = वैदिक "हिम" +

४—Shugamuna = "महामारी का देवता, ज्योति का देवता" = वेद-पूर्वीय, S'auka-manas = वैदिक "शोक +

(३ और ४ संख्यक दो देवता, भारतवर्ष में वैदिक जगत से निर्वासित हुए, वेदों में इनका पता नहीं चलता)।

५—Dakash = "नक्षत्रों का पिता"—भारतीय "दक्ष", सत्ताईस नक्षत्रों का पिता।

६—Indara = वैदिक "इन्द्र" (इ-न्द-र"—स्वरभक्तियुक्त रूप);

७—Mitra = वैदिक "मित्र";

८—Nashattiya = वैदिक "नासत्य";

९—Uruwna या Aruna = वैदिक "वरुण"; आकाश तथा सागर का देवता।

राजा या प्रधानों के कुछ नाम

१—Abirattash = वैदिक "अभिरथः";

२—Shuzigash = वैदिक रूप "सु-जिगः"।

३—Artmanyu = वेदपूर्वीय Rta-manyas, वैदिक "ऋतमन्यः"।

४—Arzawiya = वैदिक "आर्यजन्य"।

५—Biriamaza = वैदिक "वीर्यवाज"।

६—Biridashwa = वैदिक "वृद्धाश्व"।

७—Dashru = सम्भाव्य, "दश्रु" अथवा "दस्र"।

८—Aitagama = वेदपूर्वीय, Aitagama, वैदिक "एतगाम"।

९—Indaruta = वेदपूर्वीय Indarauta, Indrauta, वैदिक "इन्द्रोत"।

१०—Namyawaza = सम्भाव्य वैदिक, "नाम्यवाज" ।

११—Rushmanya = सम्भाव्य वैदिक "रुचिमन्य' ' ।

१२—Shatiya = वैदिक "सत्यः" ।

१३—Shubandu = वैदिक "सुबन्धु" ।

१४—Shumittarash = वैदिक "सुमित्रः" ।

१५—Shuwardata = सम्भाव्य वैदिक, "सुवर्‌दात" = "स्वर्दत्त" ।

१६—Teuwatti = सम्भाव्य वैदिक, "द्यवात्त" ।

१७—Turbazu = "तुर्वश, तुर्वसु" ।

१८—Tusharatta = पूर्व वैदिक Durzhratha = "दूरथ" ।

१९—Artashumara = वैदिक "ऋतस्मर" ।

२०—Artama = वैदिक "ऋतधाम" ।

२१—Dashartti = सम्भाव्य वैदिक "दासर्त्ति" ।

२२—Mattiwaza = सम्भाव्य वैदिक "मथिवाज" ।

२३—Saushshatar = "सौक्षत्र", इत्यादि ।

हिन्दू-ईरानीय युग की आर्य-भाषा के कुछ शब्द

१—Maira = वैदिक "मर्य" (= योद्धा)

२—Aika = वेद पूर्वीय Aika, वैदिक "एक" ।

३—Tera = "त्रि, त्रय" ।

४—Panza = "पञ्च" ।

५—Satta = "सप्त" ।

६—Nava = "नव" ।

७—Tapashshash—"तपस्" ।

८—Wartanna = "वर्त्तनम्"—चक्कर देना ।

९—Vasanna = "वसनम्"—रोकना ।

(ये नाम और शब्द, Acta Orientalia xi, i, ii, iii,

पश्चात् धीरे-धीरे इन आर्यों के साथ मित्रता सम्बन्ध भी होने लगा। ऐसा अनुमान होता है कि भारतवर्ष में तीन प्रकार के अनार्य रहते थे। (१) Negrito नेग्रिटो या "निग्रोबटु" श्रेणी के अनार्य,—नाटा क़द, रंग खूब काला, अफ्रीका के निग्रो के समान नाक और होंठ, बाल मेष-लोम सदृश, ये लोग अधिक करके सामुद्रिक उपकूल के प्रान्त में रहते थे। यदि सभ्यता की बात कही जाय, तो इनमें उच्च सभ्यता का कुछ भी अंश न था। मच्छी मारकर या जंगल में चिड़ियों या पशुओं का शिकार कर ये लोग गुजर कर रहे थे। यह अब बिल्कुल विनष्ट हो गई है, केवल दक्षिण बिलोचिस्तान में, दक्षिण-भारत में और असम प्रान्त में इसका कुछ अवशेष अभी तक कष्ट के बचा है। सम्भावना अधिक है, कि इस जाति के लोग भारत के प्राचीनतम अधिवासी थे। (२) Austric—आस्ट्रिक = दक्षिण जाति—जिसके लोगों ने उत्तर-पूर्व की राह से—असम-प्रान्त—बर्मा तथा हिन्द-चीन से भारतवर्ष में प्रवेश किया। इनका चेहरा किस प्रकार का था, यह तो हम ठीक प्रकार से नहीं जानते, ऐसा प्रतीत होता है कि ये भी क़द के नाटे थे, इनकी नाक भी चपटी थी और जो बोली ये लोग बोलते थे, उसी से मध्य-भारत की 'कोल' बोलियाँ, और (असम की) खासी या, खसिया बोली उत्पन्न हुई। इनकी और शाखाएँ हिन्द-चीन, मालय देश तथा द्वीपमय भारत के द्वीप-पुञ्ज में, एवं प्रशान्त महासागर के द्वीपों में फैल गईं। भारतवर्ष में तो गंगा की उपत्यका में, तथा मध्य और दक्षिण भारत में ये लोग अधिक फैले। हिमालय-प्रान्त में भी ये थे, इसका प्रमाण भी है। धान की खेती, केला, नारियल आदि कुछ फलों का उत्पादन, तथा अनुष्ठानिक और सामाजिक जीवन में पान-सुपारी का व्यवहार—हिन्दू सभ्यता को ये वस्तुएँ आस्ट्रिक जाति की देन हैं, ऐसा प्रतीत होता है। और इसके अलावा, इनमें प्रचलित धर्म-विश्वास तथा आचार-अनुष्ठान हमारे हिन्दू पुनर्जन्मवाद के अन्तराल में और हमारी हिन्दू पूजा-पद्धतियों में तथा विवाह और श्राद्ध के बहुत अंगों में छिपे हुए

रहते हैं। आस्ट्रिक-भाषी जनगण उत्तर-भारत के समतल प्रान्तों में इस समय हिन्दू जनता में रूपान्तरित होकर अपने पृथक् आस्ट्रिक अस्तित्व को भूलकर, इसकी स्मृति तक से बिछुड़ गये हैं। (३) नेग्रिटो तथा आस्ट्रिक के अलावा तीसरी अनार्य जाति जो आर्यागमन के पूर्व से भारत में रहती थी, वह द्राविड़-जाति है। पंडित लोग सोचते हैं कि द्राविड़-जाति दीर्घकाय, सरल-नासिक, और "दीर्घकपाली" थी। भारत के पश्चिम के देशों के लोगों के साथ इनका संयोग या सम्बन्ध था। भारतवर्ष में आर्य लोगों के आगमन के कई सहस्र वर्ष पूर्व, पश्चिम की घाटियों की राह से इनका भारतवर्ष में प्रवेश हुआ था—ऐसा सोचा जाता है। दक्षिण भारत में इनका घनिष्ठ वास हुआ था। पर उत्तर तथा पूर्व भारत में भी इनका प्रसार हुआ था ऐसा अनुमान होता है। वहाँ ये लोग आस्ट्रिक जाति के लोगों के साथ मिल-जुल कर रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आस्ट्रिक और द्राविड़, इन दोनों जातियों का बहुत कुछ मिलन तथा संमिश्रण हुआ था। द्राविड़ लोग आस्ट्रिकों से अधिक सभ्य थे। ये बड़े-बड़े भवन, बड़े-बड़े नगर बनाते थे, हिन्दू-सभ्यता के बहुत से वाह्य उपकरण इस द्राविड़ जाति से ही गृहीत हुए। शिव, उमा, विष्णु, श्री आदि देवताओं की विराट् कल्पनाएँ पहले-पहल द्राविड़ जाति ही में उद्भूत हुईं। योग-साधना के मूल तत्त्व तथा आचार, द्राविड़ जाति की धार्मिक चिन्ता का फल था। मोहन-जो-दड़ो तथा हरप्पा[1] की विराट सभ्यता द्राविड़ जाति के लोगों के कृतित्व के परिचायक हैं ऐसा प्रतीत होता है। द्राविड़ जाति के लोग आर्यों के सदृश गोपालन करते थे—गोपालन आस्ट्रिक जाति के रिवाज में नहीं था और द्राविड़ लोग सर्वप्रथम हाथी को अपने वश में लाये, ऐसा भी सम्भव है।

जब आर्य लोग भारतवर्ष में पहले आये, तब इस देश में सुसभ्य

१—स्थानीय उच्चारण हरप्पा नहीं, हड़पा है।

(•या किसी प्रकार की सभ्यता के प्राप्त की हुई) ये दो अनार्य जातियाँ वास करती थीं। नागरिक संस्कृति का उन्मेष द्राविड़ों में हुआ था। आस्ट्रिक जाति की सभ्यता मुख्यतया ग्रामीण सभ्यता थी। इनके सामने नवागत आर्यों की सभ्यता घुमन्तू तथा ग्रामीण सभ्यता ही थी। आर्यों के आगमन से इस देश के प्राचीन अनार्य अधिवासियों का पूरी तौर से मूलोत्पाटन या पूर्ण विनाश नहीं हुआ। नये आये हुए आर्य और पुराने निवासी अनार्य एक दूसरे के समीप रहने लगे। अधिक करके आर्य लोगों का आगमन होना सम्भव नहीं था, फिर विजेता तथा नूतन देश में भाग्यान्वेषण के लिये आये हुए आर्यों में स्वजातीय स्त्रियों की कमी होना ही सम्भव और स्वाभाविक है। आर्य, द्राविड़, कोल (आस्ट्रिक-दाक्षिण) इन तीन जातियों में भावों का आदान-प्रदान और शोणित-संमिश्रण होने लगा। आर्य लोग तो विजेता थे—कम से कम इतना ही मानना पड़ेगा कि पंजाब प्रान्त में विजेतृ-रूप से आर्यों का प्रवेश हुआ था। आर्यों की भाषा एक शक्तिशाली भाषा थी, और आर्यों की संहित-शक्ति भी असाधारण थी। आर्यों की भाषा धीरे-धीरे प्रतिष्ठित हुई, और उनकी संहति शक्ति के कारण अनार्यों के द्वारा यह गृहीत होने लगी, सम्भव है कि उस जमाने में द्राविड़ तथा कोल (आस्ट्रिक) गोष्ठी की परस्पर-विरोधी अनार्य भाषा और उपभाषा के अनैक्य के गड़बड़ के बीच, आर्य-भाषा सर्वजन ग्राह्य भाषा बनी, और इसी से इसका फैलाव सहज हुआ—समग्र उत्तर भारत ने अपनी पुरानी द्राविड़ी और कोल (आस्ट्रिक) बोलियों को छोड़ आर्यभाषा को अपनाया। आर्यों के कुछ धार्मिक अनुष्ठान और देव-देवियों को अनार्य लोगों ने स्वीकार कर लिया। फिर धीरे-धीरे अनार्यों के देवता, अनार्यों के धर्मानुष्ठान, अनार्यों के दर्शन और और तत्वज्ञान, अनार्यों का भक्तिवाद, आर्यों के मन पर अपनी छाप लगाने लगे। अनार्य राजा तथा पुरोहित लोग आर्य-भाषा ग्रहण करने के साथ ही साथ आर्य समाज (अर्थात् आर्य भाषी समाज) में गृहीत होने लगे—एक क्रमवर्धन-शील आर्यभाषी जनता संगठित होने लगी।

इस रीति से, संस्कृत भाषा जिसका वाहन था ऐसी एक मिश्र आर्यानार्य-सभ्यता, या हिन्दू सभ्यता, आर्यों के भारतवर्ष के आगमन के थोड़े समय के पश्चात् धीरे-धीरे तैयार होने लगी।

इस उपाय से हिन्दू या प्राचीन भारत की जातीय सभ्यता के विशिष्ट रूप से विकसित होने में लगभग एक हजार वर्ष लग गये। आर्यों का भारतवर्ष में आना, उनके मेसोपोटामिया में प्रकट होने के थोड़े समय बाद ही हुआ, ऐसा अनुमान करना अनुचित न होगा। अर्थात् ईसा पूर्व १५०० के बाद या लगभग १५०० खीस्ट-पूर्व यह घटना हुई थी। बुद्ध के समय, करीब ५०० वर्ष ईसा-पूर्व के आस-पास हिन्दू सभ्यता का ढाँचा बन गया। अनार्य, आस्ट्रिक और द्राविड़ देवताओं की लीलाएँ, उनके राजाओं की प्राचीन कहानियाँ,—ये सब धीरे-धीरे संस्कृत भाषा में ग्रथित होकर, आर्यों की देव-कहानियों के तथा राज-कहानियों के साथ अभिन्न सूत्र के योग से संयुक्त हो गईं, और इनको रामायण, महाभारत और पुराणों में स्थान प्राप्त हुआ। यही प्राचीन ग्रीस में भी हुआ था। सम्प्रति ऐसा एक अभिमत प्रकाशित किया गया है, कि प्राचीन काल के क्षत्रिय लोग प्रधानतया अनार्य राजन्य सम्प्रदाय के लोग थे; इस देश में स्मरणातीत आर्य-पूर्व युग से जो अनार्य राजा लोग राज करते थे, नव-जात हिन्दू समाज में ही वे अपने पूर्व गौरव को अक्षुण्ण रख कर क्षत्रिय रूप से ग्रहीत हुए। फिर ऐसा भी मत किसी विद्वान ने प्रकट किया कि भारतवर्ष में अनार्य-संतान के झुण्ड यहाँ आये ही नहीं, सिर्फ आर्यों की भाषा और आर्यों के कुछ अनुष्ठान, Culture drift अर्थात् प्रवहमान संस्कृति-स्रोत के हिसाब से ईरान से भारतवर्ष में आये—मूल आर्य जाति के आदमी नहीं आये, पर उनकी भाषा आई और उनका धर्म फैला।

आर्यों की विशिष्ट उपासन-रीति का नाम "होम" है। वैदिक आर्यों के देवता लोग आकाश में रहते हैं। अग्निदेव उनके दूत या मुखपात्र थे। वेदी बना के उस पर लकड़ी की अग्नि जला के, उसी अग्नि में इन्द्र,

वरुण, पूषा, अग्नि, अश्विद्वय, उषा, मरुद्गण प्रभृति देवताओं के उद्देश्य में, दूध, घी, यव की रोटी (पुरोडाश), मांस, सोमरस इत्यादि खाद्य वस्तु की आहुति दी जाती थी। देवता लोग आग के सहारे से उन वस्तुओं को प्राप्त कर प्रसन्न होते और होमकर्त्ता को अश्व, गो, स्वर्ण, पुत्र संतान, प्रचुर शस्य आदि दान करते थे। पर "पूजा" की रीति आर्यों में चालू नहीं थी—मूर्त्ति या किसी प्रकार के देवप्रतीक पर फूल, पत्ता, चन्दन, सिन्दूर इत्यादि चढ़ाना, अक्षत, फल फूलादि के नैवेद्य अथवा बलिदान किये हुए पशु के मुण्ड या पात्र से उसका लोहू निवेदन करना—यह सब वैदिक अर्थात् आर्य अनुष्ठान नहीं था। "पूजा" शब्द भी मूल में द्राविड़ भाषा का है, ऐसा अनुमान होता है। ये आर्य अनुष्ठान, अनार्य देवताओं के साथ-साथ "संस्कृत" होकर हिन्दू-अनुष्ठान में परिणत हुए।

आर्य लोगों के आगमन के समय भारतवर्ष के प्राचीन अधिवासी लोग द्राविड़ और कोल आदि अनार्य बोली बोलते थे, इसमें कुछ भी संदेह नहीं। आर्य लोगों के आने के और बसने के बाद बहुशत वर्ष तक ये सब अनार्य भाषाएँ जीवित थीं। बुद्ध के समय और उनके उत्तर-काल में पाँच-छः सौ साल पर्यन्त उत्तर-भारत के बहु अंश में जन-साधारण अनार्य बोलियाँ बोलते थे, ऐसा अनुमान करने के कारण बहुत से हैं। इन अनार्य-भाषियों ने जब आर्य-भाषा ग्रहण की, तब इनके धर्म, देवता और आचार-अनुष्ठान भी आर्याकृत हो गये। वे सर्व-जन-गृहीत हो गये, पौराणिक देववाद, भक्तिवाद इत्यादि आ गये और वैदिक धर्म से एक गंभीरतर, उन्नततर धर्म-जीवन आर्यानार्य-मिश्र भारतीय समाज में सृष्ट हुआ। अनार्यों के प्रधान देवता शिव, उमा, विष्णु-अनुरूप गुण के आर्य देवताओं के साथ मिलकर हो गये, और इस प्रकार उन्हें भी महनीय बनाया गया। अनार्य वृक्ष-देवता, यक्ष, रक्ष, नाग, और दैवी शक्ति के विकास के रूप से कल्पित पशु और पक्षियों की पूजा भी आर्यानार्य-मिश्र नव सृष्टि हिन्दू-जाति में प्रचलित हो गई।

खीस्ट-पूर्व प्रथम सहस्रक के प्रथमार्द्ध में जब आर्यों का वैदिक साहित्य, मिश्र आर्यानार्य या हिन्दू-जाति के द्वारा प्राचीन धर्म-शास्त्र रूप से स्वीकृत हो गया, तब प्रायः सब आर्य-भाषियों ने श्रद्धा के साथ उसे ग्रहण किया। हमारी प्रोहितश्रेणी की (ब्राह्मणों की) प्रतिष्ठा इसी समय हुई। वेद गृहीत होने का एक मुख्य कारण यह था, कि वेद पहले युग के विजेता शक्तिमान आर्यों का शास्त्र या प्राचीन साहित्य एवं आदरणीय वस्तु था। वेद माने जाने के और ब्राह्मणों का प्राधान्य स्वीकृत होने के बाद, अनार्य-भाषाओं की प्रतिष्ठा होना फिर सम्भव न था। परन्तु अनार्य-भाषाओं ने इतनी जल्दी अपना स्थान नहीं छोड़ा। अनार्य शब्द बहुत कुछ आर्य प्राकृत तथा संस्कृत के भीतर आ गये, अनार्य-चिन्ता-रीति आर्य-भाषा संस्कृत और प्राकृत में भी आ गई। ईसा के जन्म के डेढ़ सौ वर्ष पहले कलिङ्ग के जैन-धर्मावलम्बी राजा खारवेल का जो ब्राह्मी अक्षरों में खुदा हुआ प्राकृत भाषामय विराट् अनुशासन है, उसे पढ़कर किसी को संदेह तक भी नहीं हो सकता है कि राजा का नाम आर्यभाषा का नहीं, वरन् द्राविड़ भाषा का है। द्राविड़ "कार" शब्द का अर्थ "काला" या "कृष्ण", और "वेल्" शब्द का अर्थ "माला" या "बल्लम"—मूल "कारवेल", जिससे शायद "खारवेल" निकला है, उसका संस्कृत अनुवाद हो सकता है "कृष्णर्ष्टि" (अथात् कृष्ण या भयानक ऋष्टि या बल्लम है जिसका)। दक्षिणात्य अन्ध्रवंशीय राजा लोग खीस्टीय युग के प्रारम्भ में राज्य करते थे, इनके प्राकृ-भाषा में लिखे हुये बड़े-बड़े अनुशासन हैं। इनके गोत्र नाम इस प्रकार के होते थे—"वाशिष्ठीपुत्र, गोतमीपुत्र, मढरीपुत्र", इत्यादि, परन्तु इनका वंश-नाम "सातवाहन" आर्य भाषा का शब्द नहीं; यह शब्द कोल भाषा का है, और इसका अर्थ "अश्वपुत्र" है। जैसे कोल के नायर आदि जातियों में अभी तक दीखता है, वैसे इनमें भी मातृसत्ताक उत्तराधिकार की रस्म थी, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसी फुटकर खबरों से हमें आभास मिलता है कि दो ढाई हजार वर्ष पहले,

भारतीय जीवन में अनार्य उपादान कितने प्रबल थे, और आर्य प्रभाव कितना छिछला था।

भारतीय हिन्दू सभ्यता का वयः पूर्व निर्दिष्ट इतिहास के अनुसार बहुत अधिक प्रतीत नहीं होगा। इस बात से हम बहुत से सज्जनों के जात्याभिमान तथा आत्माभिमान पर चोट लगेगी। आर्यों के आने के पूर्व अनार्य द्राविड़ तथा कोल लोगों का इतिहास जरूर ही था, उसकी बहुत कुछ बातें कुछ रूपान्तरित आकार में संस्कृत पुराणों में रक्षित हुई हैं। आर्य लोगों के आते ही हिन्दू जाति के रूप ग्रहण में विशेष रूप से सहायता पहुँची। आर्य और अनार्य का पूर्ण समन्वय हुआ। ईसा-पूर्व पहले सहस्रक के द्वितीयार्द्ध में, हिन्दू-जाति तथा सभ्यता के इतिहास में मोटी रीति से दो युग गिने जा सकते हैं—एक, यज्ञ के प्राधान्य का युग, और दूसरा पौराणिक देवताओं के प्राधान्य का युग। सचमुच ईसा-पूर्व १००० से हिन्दू सभ्यता की प्रतिष्ठा का आरम्भ हुआ। आर्य और अनार्य इन दोनों विभिन्न रंगों के सूत्रों से हिन्दू-सभ्यता-रूप धूप छाया वस्त्र, इसी समय से तैयार होने लगा। खीस्ट जन्म के ७००-८०० वर्षों तक इस सभ्यता का सबसे महत्वपूर्ण समय था। संसार की और प्राचीन सभ्यताओं के साथ अगर तुलना की जाय, तो वय के हिसाब से हमारी हिन्दू-सभ्यता मिस्री, बाबिलीनीय और ईजियन सभ्यताओं से बहुत आधुनिक है; कुछ अंश में प्राचीन ग्रीक और प्राचीन पारसीक तथा प्राचीन चीनी सभ्यताओं की समकालीन है। पर ग्रीक सभ्यता अपनी विशिष्ट मूर्ति को ईसा-पूर्व प्रथम सहस्रक के प्रथमार्द्ध ही में प्राप्त कर चुकी थी; और चीनी सभ्यता ने अव्याहत गति से लगभग खीस्ट-पूर्व २,००० से आरम्भ कर खीस्ट-पूर्व प्रथम सहस्रक के प्रथमार्द्ध में अपने परिणत रूप को प्राप्त कर लिया था। हमारी प्राचीन हिन्दू-सभ्यता को रोमन (Roman) तथा ग्रीको-रोमन (Graeco Roman) युग की सभ्यता के साथ और चीन के हान् (Han) तथा थाङ्ग-वंश (T'ang) के युग की सभ्यता के साथ हम तुलना कर सकते हैं।

हिन्दू सभ्यता के अति-प्राचीनत्व के विषय पर जिनकी आस्था है, वे ज्यौतिषिक प्रमाण लाकर इसे सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। इस मामले में हम केवल दो बात कहना चाहते हैं। पहले—ग्रीक लोगों के साथ परिचय होने के पश्चात् हिन्दू-ज्योतिष ने पुष्टता को प्राप्त किया; वेद-संहिता तथा ब्राह्मणादि प्राचीन ग्रन्थों में जो ज्योतिषिक उक्तियाँ या उल्लेख हैं, किस अर्थ से उनका विवेचन किया जायगा, इस विषय पर काफी मतभेद है। दूसरे—जो महाशय इन ज्यौतिषिक प्रमाणों का ऐतिहासिक आलोचना में उपयोग करते हैं, उनमें एकमत्य नहीं; इसी से सिद्ध होता है, कि युक्त-तर्कानुमोदित विचारशैली का जो एकमात्र पंथ है, सो हमें एक ही निष्कर्ष पर पहुँचा देगा—उसे इस ज्यौतिषिक विवेचन में स्थान नहीं मिलता। ज्योतिषिक व्याख्या या सिद्धान्तों से जो अतिप्राचीन तारीखों की बात हम कभी-कभी सुनते हैं, उनके विरुद्ध इतने अन्य विषय हमारे सामने लाये जाते हैं, जिनके सामने हम इन विभिन्न व्याख्या या सिद्धान्तों में से किसी को भी स्वीकार नहीं कर सकते।

रामायण, महाभारत, पुराणों में दिये हुए सूर्य तथा चन्द्रवंशीय राजाओं की तालिका—इन सब की ऐतिहासिकता पर बहुत से अनुसन्धान हो चुके हैं। जो लोग यथारीति प्राचीन इतिहास की आलोचना करते हैं, उनमें कोई भी रामायण कहानी की किसी प्रकार की ऐतिहासिकता नहीं मानते। वे केवल इतना ही मानते हैं, कि महाभारत के मूल आख्यान में और महाभारत तथा पुराणों के कुछ उपाख्यानों में कुछ ऐतिहासिकता हो सकती है। कुरुक्षेत्र-युद्ध ईसा-पूर्व दश शतक में हुआ था, ऐसा अभिमत दो विशिष्ट ऐतिहासिकों ने (अंगरेज एफ० ई० पार्जिटर ने और भारतीय हेमचन्द्र राय चौधरी ने) प्रकट किया। इनकी आलोचना शैली उपेक्षा करने की नहीं। महाभारत के पात्र तथा पात्रियों के सम्बन्ध में इतना तक हम कह सकते हैं, कि वे आर्यागमन के पूर्व-काल के लोग हो सकते हैं, महाभारत का मूल आख्यान अनार्य राजाओं

की कहानी भी हो सकती है,—फिर नवागत आर्य-जाति के लोगों से अनार्यों के मिश्रण और भाषा में उनके आर्यीकरण के साथ ये सब उपाख्यान भी परिवर्तित हुए, पल्लवित हुए, और अन्त में इससे हमारा संस्कृत महाभारत बन गया; ईसा के जन्म के आस-पास के किसी समय आर्यानार्य-मिश्र हिन्दू-जाति की एक जातीय सम्पत्ति के रूप से अनार्य तथा आर्यों के प्राग्इतिहास और विचार का भंडार-स्वरूप यह महाग्रन्थ मान्य हो गया।

एशिया की आध्यात्मिक एकता

लगभग ४४ वर्ष पहले जब अविचारपूर्ण साम्राज्यवादी दलदल में जापान की आत्मा नहीं धँसी थी जापान के सर्वश्रेष्ठ विचारक काकूजो ओकाकुरा ने The Ideals of the East (पूर्व के आदर्श) नामक एक अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा था जिसमें यह बताया गया था कि एशिया अपना सांस्कृतिक और आध्यत्मिक पुनर्जीवन किस प्रकार प्राप्त कर सकता है। प्रकृति और मनुष्य ने जितनी विभिन्नताएँ एशिया में खड़ी कर रखी हैं उनको देखते हुए ओकाकुरा की पुस्तक का प्रारम्भिक वाक्य बड़ा अजीबा सा लगता है। पुस्तक का पहला वाक्य है— "एशिया एक है।" यूँ जाहिरा देखने में एशिया की अपेक्षा यूरोप सांस्कृतिक एकता की दृष्टि से एक एकाई दिखाई देता है। वहाँ इबरानी और यूनानी समन्वय पर खड़ी की हुई एक ही "ईसाई" सभ्यता है जिसके पैटर्न में हैलेनिक, रोमानिक, जर्मनिक केल्टिक, स्लाव, मजार, और यूरालिक जातियाँ बनी हुई हैं; जब कि एशिया भिन्न-भिन्न जातियों और संस्कृतियों का एक समूह लगता है—जिनमें तीव्र विभिन्नता की दृष्टि से तीन प्रमुख हैं—भारतीय या हिन्दू, चीनी और अरब या इस्लामी।

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि जातियों और संस्कृतियों की दृष्टि से एशिया में यूरोप की अपेक्षा कहीं अधिक विभिन्नता है। मंगोल, तातार, हिन्द-चीनी, हिन्द-एशियाई द्वीप, भारतीय, ईरानी और सामी सब एक दूसरे से रहन-सहन, बोल-चाल, जाति और संस्कृति की

दृष्टि से बिल्कुल भिन्न दिखाई देते हैं; किन्तु बावजूद इस विभिन्नता के उनमें एक बुनियादी एकता है। वे समझते हैं कि वे एक ही मानव कुटुम्ब के सदस्य हैं। मानवता की यह भावना एशिया से अधिक और कहीं व्याप्त नहीं है। ओकाकुरा ने स्वयं लिखा है—"अरबों का शौर्य, ईरानियों की कविता, चीनियों की नैतिकता, भारतीयों के उन्नत-विचार—सब एक स्वर से एशियाई शान्ति की कामना करते हैं। इन्हीं विशेषताओं के भीतर एशियाई उद्यान में खिले हुए भाँति-भाँति के सुगन्धित पुष्पों की भाँति किन्तु एक अत्यन्त आकर्षक सुगन्धि उत्पन्न करनेवाले ये गुण—एक मिली-जुली मानवता तैयार कर रहे थे। स्वयं इस्लाम को हम घोड़े पर चढ़े हुए तलवार हाथ में लिये हुए कन्फ्यूसियस धर्म कह सकते हैं। बौद्ध धर्म आदर्शों का एक महासागर है, जिसमें पूर्वीय विचार-धारा की भिन्न-भिन्न नदियाँ मिली हैं। वह केवल पवित्र गंगा जल का द्वीप नहीं है क्योंकि उसमें सहायक नदियों के रूप में तातार देश भी मिले थे और अपनी राष्ट्रीय विशेषताओं द्वारा उन्होंने बौद्ध धर्म के भण्डार को नये संगठन नई शक्ति, पूजा-विधि और नई भक्ति से माला-माल किया है।" ओकाकुरा एशिया की समस्त सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विरासत के सम्पूर्ण समन्वय का प्रतीक अपने देश जापान को मानता था और इसमें कोई संदेह नहीं ओकाकुरा की बात में सच्चाई थी, क्योंकि जब हम यह देखते हैं कि जापान ने अपनी सर्वश्रेष्ठ उन्नति का आधार एशियाई संस्कृति की दो प्रमुख बातों को बनाया—एक चीनी विद्वत्ता और दूसरी भारतीय बुद्धि—चीनी कलात्मक अभिव्यञ्जना और भारतीय अध्यात्म।

भारत एशिया का केन्द्र है जहाँ भिन्न-भिन्न जातियों, धर्मों, विचार-धाराओं के लोग मिल-जुल कर रहते हैं। भारत आध्यात्मिक आदर्शवाद का बहता हुआ एक ऐसा गहरा चश्मा है जिस पर सतीह उतार-चढ़ाव का अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। इस दृष्टि से हम भारत को विभिन्नता में एकता पैदा करनेवाला, एशिया की धुरी कह सकते हैं।

यदि शारीरिक दृष्टि से नहीं तो कम से कम अपनी मानसिक और आध्यात्मिक बनावट में एक भारतीय अपने को उन समस्त जातियों का उत्तराधिकारी और वंशज समझता है जो प्राचीन काल और मंझले जमाने में भारत में आईं और मिल-जुल गईं। इस दृष्टि से वह समस्त संसार में सबसे अधिक विश्व-नागरिक है। अत्यंत प्राचीन निग्रो संस्कृति के चिह्न यहाँ मिलते हैं जबकि मानव वृक्षों के कोटर में रहते थे और फल खाते थे। बहुत सम्भव है कि इन लोगों की भाषा के कई शब्द अब भी हमारी आर्य और द्राविड़ भाषाओं के भीतर मौजूद हों। इनके बाद प्रोटो-आस्ट्रेलाइड जातियाँ भारत में आईं। ये जातियाँ हिन्द-चीन, हिन्द-एशिया और प्रशान्त महासागर के दूसरे द्वीपसमूहों में बसती थीं। इनके रक्त और संस्कृति का सम्मिश्रण भारतीयों के साथ हुआ। इस तरह प्रागैतिहासिक काल से भारत और दक्षिण-पूर्व एशिया का सम्बन्ध होता है और भारतीय संस्कृति के अन्दर दक्षिण-पूर्व एशियाई संस्कृति के अवशेष वर्तमान हैं। इसके पश्चात् द्राविड़-भाषी जातियाँ पश्चिम की ओर से भारत में आईं। ये द्राविड़ भाषी लोग संस्कृति और भाषा की दृष्टि से एशिया कोचक और भूमध्य सागर के आस-पास रहने वालों से सम्बन्धित थे। इसके पश्चात् आर्यभाषा-भाषियों ने भारतीय सभ्यता को अन्तिम रूप से सजाया और सँवारा। इन आर्यभाषा-भाषियों के द्वारा भारत का आध्यात्मिक और मानसिक सम्बन्ध ईरान और यूरोप की इण्डोयूरोपियन जातियों की संस्कृति से कायम हुआ। ईसा से एक हजार वर्ष पूर्व चीनी और तिब्बती भाषाएँ बोलने वाली मंगोल जातियाँ हिमालय की तराई पर उतरीं और उन्होंने नैपाल, उत्तरी बिहार, उत्तरी और पूर्वी बंगाल और असम की सभ्यता और इतिहास को बहुत प्रभावित किया। इन लोगों के द्वारा भारत का मध्य-एशिया, चीन और उत्तरी हिन्द-चीन से सम्बंध स्थापित हुआ। और इसलाम के आगमन के पश्चात् अन्तिम रूप से हमारा देश अरब और सामी देशों की संस्कृति के साथ अन्तिम रूप से जुड़ गया। भारत की निग्रो-आस्ट्रिक

द्राविड़ी-मंगोली-आर्य संस्कृति पर अरब की इसलामी संस्कृति ने कई बातों में बहुत बुनियादी असर डाला।

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ की प्रसिद्ध कविता की पंक्तियाँ है—

हे मोर चित्त, पुण्यतीर्थे जागोरे धीरे,
एई भारतेर महामानवेर सागर तीरे!

अर्थात्—ऐ मेरे चित्त! समस्त मानवता के इस भारत रूपी सागर में, इस पुण्यतीर्थ में धीरे से जागो।

रवीन्द्रनाथ की यह कविता बंगाल में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमें कविश्रेष्ठ भारत के उस विशेष कर्तव्य की ओर इंगित करते हैं जिसके लिये भारत समस्त संस्कृतियों और जातियों का समन्वय-केन्द्र होने के कारण उत्तरदायी है। ईसा पूर्व पहली सहस्राब्दी से, जब से भारत अनार्य [निषाद आस्ट्रिक, दास-दस्यु (द्राविड़), किरात (मंगोल)] और जातियों का समन्वय केन्द्र बना, तब से भारत ने विभिन्नता में एकता के महान आदर्श को अपने जीवन में चरितार्थ कर लिया। यही एकता ईसा से ५०० वर्ष पूर्व चीनवालों ने ताओ धर्म के माध्यम से प्राप्त की इसके पश्चात् यही एकता इसलाम के अरब, ईरानी, भारतीय और तुर्क रहस्यवादी सूफियों ने अत्यन्त सुन्दर और मार्मिक कविताओं द्वारा प्रकट की और इस एकता द्वारा एशिया के विभिन्न धर्मों और जातियों को एक मञ्च पर लाकर खड़ा कर दिया।

इस एकता के भिन्न-भिन्न पहलुओं को भिन्न-भिन्न भाषाओं द्वारा प्रकट किया गया है। इन विविध भाषाओं में व्यक्त किये हुए विचार केवल उसी भाषा की सीमा तक सीमित नहीं रहे। उन्होंने अपनी राष्ट्रीय सीमाओं को पार कर आन्तर्राष्ट्रीय महत्व प्राप्त किया। इन विविध भाषाओं के साहित्यों में प्रकट किये हुए विचार अन्तर्राष्ट्रीय-निधि बन गये। जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने इसी अवसर पर कहा था—

"धर्म अपनी विभिन्नता और बुनियादी ध्येय में भाषाओं की तरह है।"

और हम जो समस्त मानव प्रयत्नों में, समस्त धर्मों में एक बुनियादी एकता देखते हैं इस कथन की पुष्टि करेंगे। उपनिषद्, ताओ-तेह-किङ्, धम्मपद, भगवद्गीता, महायान श्रद्धोत्पाद शास्त्र, इबरानी तौरेत, ईसाई इँजील, इसलामी कुरान और हदीस, अरब और ईरानी सूफियों की कविताएँ, मध्यकालीन हिन्दू सन्तों के भजन, दक्षिण भारत के तामिल अलवार, वैष्णव भक्त और सितार (शैव सन्त और सिद्ध) और उत्तर भारत के सन्त, भक्त और साधकों के प्रवचन और रचनाएँ, रामायण, महाभारत, शाहनामा, अलिफ लैला व लैस्म जैसे महाग्रन्थ, चीनी प्रकृति-काव्य की पुस्तकें, मध्यकालीन जापानी छायावादी उपन्यास, आदि साहित्यिक और धार्मिक ग्रन्थ विविध युगों और विविध देशों की साहित्यिक, मानसिक और नैतिक भावनाओं के सर्वश्रेष्ठ फल हैं। जिन विविध भाषाओं में ये विचार व्यक्त किये गये हैं उन भाषाओं की परिधि के पीछे एक समानता की भावना से ये विचार ओत-प्रोत हैं। राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय भाषा संस्कृति में ये विचार गूँथे गये हैं और मानवता के इस संगीत के सुन्दर राग-रागनियाँ भारत के ब्राह्मण और बौद्ध साहित्य, चीन के ताओ साहित्य, अरब और ईरान के सूफी साहित्य और जापान के बौद्ध और शिन्तो साहित्य द्वारा झंकृत की गई हैं।

एशिया की जो भाषाएँ अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना और सांस्कृतिक समन्वय के काम में बहुत बड़ी शक्ति सिद्ध हुईं, वे ये हैं—संस्कृत, चीनी और बाद में फारसी। संस्कृत, चीनी और यूनानी में तीनों प्राचीन भाषाएँ अपनी मौलिकता अपनी बौद्धिकता और अपनी आध्यात्मिकता के कारण समस्त मानवता की विरासत हो गईं। बाद में मध्यकालीन युग में अरबी ने अन्तर्राष्ट्रीय विज्ञान और अनुशासित जीवन के क्षेत्र में, विशेषकर पश्चिमी एशिया और अफरीका में बहुत महत्वपूर्ण काम किया। किन्तु इसलाम जिन आदर्शों को लेकर खड़ा हुआ था उनका व्यापक प्रतिपादन बजाय अरबी के फारसी ने किया। संस्कृत, यद्यपि गंगा

काँठे की ब्राह्मणी सभ्यता के प्रचार का वाहन थी, फिर भी भारत के बाहर बरमा, हिन्द-चीन, हिन्द-एशिया, सेरन्दिया, और प्राचीन मध्य एशिया में उसने नया घर बना लिया और जब बौद्ध-धर्म चीन गया और वहाँ से एक ओर कोरिया और जापान पहुँचा और दूसरी ओर असम तो इन देशों की जनता में उसने एक साहनुभूति-सूचक भावना पाई।

चीन की युगों पुरानी सभ्यता भी मौलिक सभ्यता है। चीनी सभ्यता मानव की अमर कृतियों में से एक है। किन्तु चीन को भी अपने उन्नत सामाजिक दर्शन को और अधिक परिपूर्ण करने में बौद्ध धर्म से बड़ी मदद मिली। उसे बौद्ध धर्म के अन्दर अपनी गहरी से गहरी आध्यात्मिक और धार्मिक भावनाओं को परितुष्ट करने के लिये, जो कि लाओत्जे और उनके शिष्यों द्वारा काफी उन्नत की जा चुकी थी, एक बड़ा साधन मिला। भारतीय, बौद्ध और ब्राह्मण विचार-धारा की वाहन संस्कृत भाषा भी चीन के लिये उपयोगी सिद्ध हुई।

संस्कृत ने चीनी दर्शन के क्षेत्र में काफी काम किया। संस्कृत से प्रभावित होकर चीनी भाषा-शास्त्रियों ने चीनी भाषा में शामिल कर लिये गये। चीनी उच्चारण विधि के कारण इन शब्दों का पता लगाना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव काम है। किन्तु वे शब्द चीनी भाषा के अभिन्न अंग बन गये हैं। लगभग ईसा के जन्म के समय बुद्ध का नाम चीनी भाषा में आया। तब से अन्य भाषाओं की तरह चीनी भाषा में परिवर्तन हुए। प्रारम्भ में चीनी 'बुद्ध' कहते थे। फिर शताब्दियों के क्रम में उसमें इस तरह परिवर्तन होते गये; बुद्ध-विऔध-भुत-भुर-भुभ्वत। अब चीन की विविध बोलियों में इस शब्द को फु-फ़ो-फ्वात और फ़ात कहते हैं। मूल 'बुद्ध' शब्द से यह परिवर्तन ज़मीन आसमान का परिवर्तन है। चीनी संस्कृत शब्दों को अपनी भाषा में अनुवाद कर लेते थे। जैसे—

तथागत = जुलाई,

अश्वघोष = मा-हेङ्ग

अवलोकितेश्वर = कुआन-यिन आदि।

संस्कृत अत्यन्त सुसंस्कृत चीनी भाषा को बहुत अधिक प्रभावित न कर पाई किन्तु उन लोगों को जो चीनियों जैसे सुसंस्कृत नहीं थे जैसे मध्य-एशिया, हिन्द-एशिया के देश, वहाँ संस्कृत स्थानीय भाषाओं की बड़ी बहिन बन गई। संस्कृत के ही प्रभाव से प्राचीन मध्य-एशिया की भाषाएँ (प्राचीन खोतानी, सोग्दी और तोखारियन), तुरकी, मंगोल, तिब्बती, हिन्द-चीन की मान या तलेङ्ग, ख्मेर या कम्बुजी, चाम, बर्मी और थाइ और हिन्द चीन की जावानी, बालिनी, सुन्दानी, मदुरी, मलाया और फिलिप्पाइन की भाषाएँ जैसे विसायान और तागोलोग आदि अपनी-अपनी भाषाओं की काफ़ी उन्नति करके मानव के अनुभव और उसकी भावना को, साहित्य और कविता को, विचार और विज्ञान को अधिक समृद्ध बनाया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति के इतिहास के क्षेत्र में संस्कृत ने अभूतपूर्व काम किया है और यदि उस पर अनुसन्धान किया जाय तो काफी सामग्री मिल सकती है।

संस्कृत की तरह चीनी ने भी अपने पूर्वीय और दक्षिणी पड़ोसियों को काफ़ी प्रभावित किया। इनमें कोरियन, जापानी, दक्षिणी अन्नमी (विएत-नामी) प्रमुख हैं। हम आज बगैर चीनी के जापानी साहित्य, यहाँ तक कि जापानी भाषा तक की कल्पना नहीं कर सकते। जापानी संस्कृति भी सार रूप में चीनी है। केवल यामातो की भावना ने उसे अपना विशेष रङ्ग-रूप दे दिया है। जापानी संस्कृति का अधिकांश कुछ तो सीधा चीन से लिया गया है और कुछ चीन द्वारा भारत से लिया गया है। कोरिया और विएत-नाम की भाषाएँ और संस्कृतियाँ भी चीन के अन्तर्गत पनपीं। वास्तव में पूर्व और दक्षिणी-पूर्व और मध्य-एशिया में चीन और भारत के सम्मिलित प्रयत्नों से स्थानीय जनता अपनी विशिष्ट भावनाओं की उन्नति के शिखर तक पहुँचा सकी। और इन दोनों देशों के लिये अक्षय गौरव की बात है कि इन्होंने इन पड़ोसी देशों को शान्ति के मार्ग द्वारा उन्नति के शिखर तक पहुँचाया। यह समस्त

उन्नति इन राष्ट्रों ने अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के माध्यम से की।

भाषा की दृष्टि से अरबी, इबरानी, फोनीशियन, असुरी और बाबुली से सम्बन्धित है। विजेता इस्लाम अरबी कुरान के साथ विविध देशों में गया और इस कारण अरबी की भी प्रतिष्ठा क़ायम हुई। मध्यकालीन युग में अरबी एशिया और यूरोप के बीच आपसी सम्बन्ध की माध्यम बन गई थी। केवल मुसलमानों को ही नहीं बल्कि अन्य धर्मावलम्बियों को भी अरब से विज्ञान, अनुसन्धान, दर्शन आदि के अध्ययन के लिये प्रोत्साहन मिला। इसमें स्पेन और सिसली प्रमुख हैं। किन्तु अरबी का सब से अधिक प्रभाव ईरान पर पड़ा। अरबी ने उसकी आत्मा ही बदल दी। इस्लाम ग्रहण करने के बाद ईरान ने जरथुस्त्र और मानी के दर्शन के प्रचार का काम हाथ में लिया—सत्यम्, शिवम्, और सुन्दरम् की उपासना का काम। १००० ईस्वी के बाद ईरान ने पूर्वी और पश्चिमी तुर्की, भारतीयों और सुदूर हिन्द-एशियनों को काफी प्रभावित किया।

आज एशिया की जनता हर जगह अपने महान् कर्तव्य के प्रति सजग हो रही है। अब उसे भ्रातृत्व में बाँध कर मानवता के कल्याण के लिये लग जाना चाहिये। भगवद्गीता में भगवान ने कहा है—समोहमसर्वभूतेषु नामेद्वेषोन साप्रियाह—अर्थात् मैं समस्त प्राणियों के लिये एक समान हूँ। न मैं किसी से द्वेष करता हूँ और न कोई मुझे विशेष रूप से प्रिय है।

यही भावना अत्यन्त सादगी और सुन्दरता के साथ हिन्द-एशिया के जनतंत्र के विधान में व्यक्त की गई है जिसमें लिखा है, 'हिन्द-एशिया का जनतंत्र ऐसे ईश्वर के विश्वास पर अवलम्बित है जो समस्त मानव जाति का ईश्वर है!'